# स्वनिर्मित जीवन

खंड - 1

समाज के भीतर मनुष्य

# स्वनिर्मित जीवन

खंड - 1

समाज के भीतर मनुष्य

**डॉ. उमेश मण्डल**

हिंदी अनुवाद

**पल्लवी मण्डल**

**पल्लवी प्रकाशन**
**बेरमा/निर्मली**

# SWANIRMIT JEEVAN - 1

**The Human Within Society**
A Hindi Translation of Dr Umesh Mandal's Maithili Reflections on Life and Society; Translated by Pallavi Mandal

**Swanirmit Jeevan** – 1 is the first volume of Dr Umesh Mandal's two-volume work of reflective prose, originally written in Maithili and grounded in a close engagement with source texts. Drawing on selected statements from Jagdish Prasad Mandal's Payasvinee as points of departure, its fifty reflective pieces move from self-examination towards social responsibility. They explore questions of moral agency, folk and agrarian culture, women's oral knowledge, tradition and modernity, caste, hunger, social domination, language and collective participation.

The book neither summarises Payasvinee nor treats its quotations as final answers. Instead, each selected passage becomes the starting point for an independent reflection and a wider dialogue with contemporary life. At the heart of the volume lies the conviction that human beings are shaped by society, but are not merely passive products of inherited structures. Through reason, dignity, self-examination and responsible action, they can question those structures and participate consciously in reshaping both themselves and the society in which they live. This Hindi translation by Pallavi Mandal seeks to make the ideas and concerns of the original Maithili work accessible to a wider readership while preserving its reflective character, social sensitivity and dialogic spirit.

**Published by:** Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452

**First Edition:** 2026
**ISBN:** 978-93-48865-95-3
**Price**: 299/-
**Copyright:** © Author (Dr. Umesh Mandal)

**Printed by:** Manav Art (Pallavi Prakashan)
**Typesetting:** Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
**Cover Design:** Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

**Website:** http://pallavipublication.blogspot.com
**Email:** pallavi.publication.nirmali@gmail.com
**Mobile:** +91 99316 54742, +91 62006 35563
**Font Source:** Google Fonts

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, stored in a retrieval system, or processed in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

# अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

दो शब्द

**आरम्भिक लेख**

★ स्वनिर्मित जीवन की वैचारिक यात्रा

★ विचार-बिंदु : सूत्र से विमर्श तक

★ पयस्विनी : प्रश्न, प्रतिरोध और लोकचेतना की पुस्तक

★ प्रवेश : समाज के भीतर मनुष्य

**विचार-बिंदु**

1. मण्डलजी की प्रश्नधर्मी चेतना
2. प्रतीक्षा नहीं, आत्मबल
3. जो जहाँ है, वहीं से अपनी शक्ति जगाए
4. उलझे जीवन में विचार की आवाज काँपती है
5. जो उलझन सुलझाता है, वही निर्भय होकर बोलता है
6. समय बदलता है, नैतिक कसौटी भी परखनी पड़ती है
7. अनुचित व्यवहार को समझें, मनुष्य को नष्ट न करें
8. सुविधा और दायित्व का संघर्ष व्यक्ति का वास्तविक परिचय देता है
9. द्वंद्व से भागी चेतना दिशा खो देती है
10. अहंकार द्वंद्व पर परदा डालता है

11. आदिम साझेदारी से कृषि-संस्कृति तक
12. प्रकृति कम, मनुष्य की बनाई समस्याएँ अधिक
13. लोक-कण्ठ में जीवित इतिहास को पढ़ें
14. जहाँ शिक्षा वर्जित थी, वहाँ गीत पाठशाला बने
15. संस्कार-गीत : स्त्री के लोक-अनुभव की पाठशाला
16. मैथिल संस्कृति किसके जीवन से बनी है?
17. अतीत से सीखें, अतीत की पूजा न करें
18. परम्परा विवेक माँगती है, अन्ध-स्वीकार नहीं
19. अपनी संस्कृति का निर्माण स्वयं करना होगा
20. केवल साधनों के आधुनिक हो जाने से विचार आधुनिक नहीं होते
21. दूरी बनाई जाती है, समाज नहीं
22. अन्धविश्वास के अँधेरे में भविष्य नहीं बनता
23. भूख का प्रश्न सुलझाए बिना नैतिकता अधूरी रहती है
24. जब सत्ता किसी जीवन-शैली को संस्कृति बना देती है
25. वर्चस्व संस्कृति नहीं, जोर-जबर्दस्ती है
26. मनगढ़न्त नैतिकता समाज को भ्रमित करती है
27. क्षेत्र के नाम पर नीचा दिखाना, मिथिला को अपने ही भीतर बाँटना है
28. जाति की दीवार केवल बाहर नहीं, कुल-मूल के भीतर भी खड़ी है
29. जाति जब श्रमजीवियों को बाँटती है, शोषण की शक्ति बढ़ती है
30. चोर महन्त तब बनता है, जब दिमाग सामंती रह जाता है
31. समस्या को स्वीकार करना निदान का पहला विवेक है
32. समस्या को पहचाने बिना समाधान नहीं निकलता
33. जड़ तक पहुँचे बिना समाधान स्थायी नहीं होता

34. ललकार से नहीं, सहभागिता से समाधान निकलता है
35. खुला विमर्श उलझन की गाँठ खोलता है
36. भाषण की नैतिकता नहीं, व्यवहार की ईमानदारी चाहिए
37. शब्द आगे बढ़ जाने से जीवन नहीं बदलता
38. आवाज की ऊँचाई ईमानदारी का प्रमाण नहीं
39. सामाजिक शक्ति जागेगी, तभी समाज बचेगा
40. एक व्यक्ति संघर्ष आरम्भ करता है, व्यवस्था सब मिलकर बदलते हैं
41. गाँव समाज को बनाता है, समाज गाँव का रूप गढ़ता है
42. अनुभव से कटकर भावना जीवन से दूर हो जाती है
43. व्यवस्था निश्चित नहीं, तो अराजकता निश्चित है
44. नाम और झण्डे से विचार नहीं पहचाना जाता
45. जमीन, पानी और भाषा के प्रश्न समानता की वास्तविक कसौटी हैं
46. स्वतंत्रता उपहार नहीं, संघर्ष से अर्जित अधिकार है
47. राजधानी के कार्यालय से मिथिला दिखाई नहीं देती
48. मातृभूमि की जयकार नहीं, मातृवत व्यवहार चाहिए
49. मतभेद दृष्टिकोण में है, मैथिली सबकी है
50. हीनभाव छोड़ें, मैथिली में अपनी सामर्थ्य देखें

**अन्तिम सामग्री**

★ समापन : समाज के भीतर मनुष्य
★ स्रोत और पाठ-संदर्भ

# समर्पण

उस प्रत्येक मनुष्य को,
जो अभाव, असमानता और समाज द्वारा निर्मित सीमाओं के बीच
अपने विवेक, श्रम और आत्मबल को जीवित रखते हुए
अपने जीवन का निर्माण करता है।

- पल्लवी

# प्राक्कथन

✺

मनुष्य जन्म के साथ जीवन तो पाता है, किन्तु उसके भावी रूप, अर्थ और दिशा से अनभिज्ञ रहता है। परिवार, भाषा, भूगोल और सामाजिक सम्बन्ध उसके जीवन का प्रारम्भिक आधार तैयार करते हैं; अनुभव, प्रश्न, श्रम और निर्णय के बीच वह धीरे-धीरे अपने जीवन को आकार देता है और उसकी दिशा निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की चेतना और समाज की सहभागिता, दोनों महत्त्वपूर्ण होती हैं। डॉ. उमेश मण्डल की द्विखण्डीय कृति 'स्वनिर्मित जीवन' व्यक्ति और समाज के इसी पारस्परिक सम्बन्ध की वैचारिक पड़ताल करती है।

'स्वनिर्मित' शब्द सामान्यतः व्यक्तिगत उपलब्धि और आत्मनिर्भरता का बोध कराता है। प्रस्तुत कृति में इसका अर्थ अधिक व्यापक है। जाति, लिंग, आर्थिक स्थिति, शिक्षा और अवसर की असमानता जीवन की वास्तविक परिस्थितियाँ हैं; तथापि मनुष्य केवल इन परिस्थितियों का निष्क्रिय परिणाम नहीं है। वह अपनी स्थिति को समझ सकता है, विरासत में मिली मान्यताओं को परख सकता है और अपनी सामर्थ्य तथा सामूहिक सहयोग के बल पर परिवर्तन में सहभागी हो सकता है। स्वनिर्माण यहाँ सामाजिक सम्बन्धों के बीच अपने विवेक और उत्तरदायित्व को विकसित करने की प्रक्रिया है।

इस धारणा का एक आवश्यक नैतिक पक्ष भी है। शोषित मनुष्य को उसके शोषण के लिए दोषी ठहराना अथवा प्रत्येक अभाव को व्यक्तिगत प्रयत्न की कमी का परिणाम मान लेना स्वनिर्माण के अर्थ को विकृत करेगा। पहला खण्ड इस सरलीकरण से स्पष्ट दूरी रखते हुए परिस्थितियों में निहित अन्याय को पहचानने, जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं से जुड़े प्रश्न उठाने और परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रभावित लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने पर बल देता है। व्यक्तिगत आत्मबल और सामाजिक न्याय इस दृष्टि में परस्पर सम्बद्ध हैं।

दोनों खण्डों में पचास-पचास विचार-बिन्दु हैं। पहला खण्ड 'समाज के भीतर मनुष्य' प्रश्नधर्मी चेतना, आत्मबल, जीवन के द्वन्द्व और आत्मपरीक्षण से आरम्भ होकर संस्कृति, लोकस्मृति, स्त्री-अनुभव, परम्परा, आधुनिकता, भूख, जाति और वर्चस्व के प्रश्नों तक आगे बढ़ता है। समस्याओं की पहचान और उनके सामूहिक समाधान पर विचार करते हुए यह यात्रा गाँव, जमीन, पानी, मातृभूमि और भाषिक आत्मविश्वास तक पहुँचती है। इसका मूल प्रश्न है कि समाज हमारे भीतर किस प्रकार बसता है और हम अपने व्यवहार से उसके निर्माण में किस प्रकार सहभागी होते हैं।

इस खण्ड की विशेषता सामाजिक आलोचना को आत्मपरीक्षण से जोड़ना है। अन्याय को यदि केवल सत्ता, संस्था अथवा दूसरे व्यक्ति के आचरण में देखा जाए, तो प्रश्न करने वाले की अपनी भूमिका अनदेखी रह सकती है। कृति पाठक को इस एकपक्षीय दृष्टि से बाहर लाती है। समानता और मानवीय गरिमा के जिन मूल्यों को हम सार्वजनिक रूप से स्वीकार करते हैं, वे हमारे पारिवारिक सम्बन्धों, जातिगत व्यवहार, श्रम के प्रति दृष्टिकोण और असहमत व्यक्ति के प्रति आचरण में किस हद तक दिखाई देते हैं? यहीं सामाजिक विचार दैनिक जीवन की कसौटी बनता है।

सांस्कृतिक विवेचन इस आत्मपरीक्षण को ऐतिहासिक और सामूहिक आधार प्रदान करता है। संस्कृति केवल पर्व-त्योहार अथवा औपचारिक संस्कारों तक सीमित नहीं है। खेत का श्रम, किसान का अनुभव, घर-परिवार में विकसित ज्ञान, बोली-बानी, गीत और लोकस्मृति भी उसका निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से लोकजीवन ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित होता है। सांस्कृतिक मूल्यांकन में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति की प्रचलित परिभाषा में किनके अनुभव समाहित हैं और किनका जीवन उपेक्षित रह गया है।

स्त्री-अनुभव की मौखिक परम्परा, विशेषतः संस्कार-गीतों की चर्चा, इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखती है। औपचारिक शिक्षा से वंचित अथवा उस तक सीमित पहुँच रखने वाली स्त्रियों के अनुभव, पीड़ा, हास्य, सम्बन्ध-बोध और लोकबुद्धि गीतों के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहे हैं। किन्तु पुस्तक लोकगीतों को घटनाओं का प्रत्यक्ष और क्रमबद्ध अभिलेख नहीं मानती। वे सामाजिक इतिहास और सामूहिक स्मृति के स्रोत हैं, जिनके अध्ययन में अवसर-

विशेष, क्षेत्र, समुदाय, स्वर और पाठान्तर का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक गीत को प्रतिरोध की घोषणा मान लेना भी उचित नहीं; स्वीकृति, तनाव और असहमति के अलग-अलग स्वर उनके सामाजिक प्रसंग में खुलते हैं।

परम्परा और आधुनिकता के विवेचन में भी इसी प्रकार की सावधानी दिखाई देती है। विरासत जीवनदायी अनुभवों को सँजोती है, किन्तु उसके भीतर रूढ़ि और वर्चस्व के संस्कार भी रह सकते हैं। जीवनोपयोगी परम्पराओं का संरक्षण और अमानवीय मान्यताओं का पुनर्परीक्षण एक साथ आवश्यक है। इसी प्रकार केवल नए साधनों के उपयोग से चेतना आधुनिक नहीं हो जाती। तकनीक का सामाजिक अर्थ उसकी उपलब्धता, प्रयोग की दिशा और लोकजीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से निर्धारित होता है; वैचारिक आधुनिकता प्रश्न, प्रमाण, समानता और मानवीय गरिमा की स्वीकृति से जुड़ती है।

परम्परा और आधुनिकता के इस विवेक की सामाजिक परीक्षा भूख, जाति और क्षेत्रीय भेद के प्रश्नों पर होती है। अभाव के कारणों की उपेक्षा कर केवल व्यक्ति के आचरण पर निर्णय देने से न्याय अधूरा रह जाता है। जातिगत अपमान और आर्थिक शोषण के परस्पर सम्बन्ध को समझना भी आवश्यक है। समाधान के लिए समस्या की जड़ पहचानना, प्रभावित लोगों के अनुभव सुनना और सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया विकसित करना आवश्यक है। यहाँ स्वनिर्माण का सामाजिक अर्थ अधिक स्पष्ट होता है।

पहले खण्ड का अन्त मैथिली के प्रति आत्मविश्वास के आह्वान के साथ होता है। यहीं से दूसरे खण्ड 'सृजन के भीतर समाज' का आरम्भिक प्रश्न उठता है: 'हम किसके रचनाकार हैं?' अपनी भाषा और सामाजिक सामर्थ्य की पहचान के बाद यह प्रश्न उठता है कि रचनाकार उनके माध्यम से किन जीवन-अनुभवों को अभिव्यक्ति देगा। लेखक किनके अनुभवों को देखता है, किनके श्रम और संघर्ष को साहित्यिक गरिमा प्रदान करता है और किसका जीवन उसकी दृष्टि से बाहर रह जाता है?

दूसरा खण्ड इस प्रश्न को रचनाकार की सामाजिक दृष्टि और रचना-विधान से जोड़ता है। लेखक अकेला लिख सकता है, किन्तु उसकी भाषा, स्मृति और अनुभव सामाजिक सम्बन्धों से विकसित होते हैं। उसके विषय-चयन, पात्र-गठन, शब्द-प्रयोग और मौन में भी समाज उपस्थित रहता है। साहित्य की

पक्षधरता इसलिए केवल घोषित मत में नहीं, बल्कि इस बात में भी प्रकट होती है कि रचना मनुष्य को कितनी गहराई से समझती है और पाठक को विचार का कितना अवसर देती है।

इस सन्दर्भ में सामाजिक उत्तरदायित्व और कलात्मक अनुशासन का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है। लोकहितकारी उद्देश्य अपने-आप प्रभावी साहित्य का प्रमाण नहीं बनता। अनुभव को उपयुक्त भाषा, संरचना, संवेदना और शिल्प की आवश्यकता होती है। कृति में रचना की 'दशा' और 'दिशा' के विवेचन के माध्यम से इस सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। कमजोर रचना-विधान विचार के प्रभाव को सीमित कर सकता है; इसी प्रकार केवल कलात्मक चमक मानवीय सार्थकता का पर्याप्त आधार नहीं है। साहित्य की सामाजिक दृष्टि कितनी विश्वसनीय है, इसकी परीक्षा उसके रचनात्मक गठन से भी होती है।

लेखक के प्रश्न से आगे बढ़कर यह खण्ड पाठक, आलोचना, साहित्यिक संस्था और सार्वजनिक मंच की भूमिका पर विचार करता है। साहित्यिक लोकतन्त्रीकरण का अर्थ विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों और अनुभवों से उठने वाली आवाजों को अभिव्यक्ति का अवसर, पाठकीय पहुँच और निष्पक्ष मूल्यांकन मिलना है। रचनाकार के सम्मान के साथ पाठक की प्रश्न करने की स्वतन्त्रता बनी रहे, यह आवश्यक है। रचना का मूल्यांकन नाम, निजी निकटता अथवा गुटगत सम्बन्ध के बजाय पाठ, तर्क और रचनात्मक सामर्थ्य के आधार पर हो, तभी साहित्यिक संवाद सार्थक बनता है।

प्रचार, पुरस्कार और प्रतिष्ठा का विवेचन भी इसी कसौटी से जुड़ता है। सम्मान और प्रचार रचना को पाठक तक पहुँचाने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु उसके साहित्यिक मूल्य को निर्धारित करने के पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। पुरस्कार स्वीकार करने अथवा उससे दूरी बनाए रखने मात्र से लेखक की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं किया जा सकता। मूल प्रश्न उसके विवेक और सृजन की प्राथमिकताओं का है। रचना का दीर्घकालीन अर्थ पुनर्पाठ, आलोचना और बदलते सामाजिक अनुभवों के बीच विकसित होता है; 'समय का मूल्यांकन' इसी सक्रिय प्रक्रिया से जुड़ा है।

डिजिटल माध्यमों से सम्बन्धित विमर्श इस चर्चा को नए पाठकीय परिवेश तक ले जाता है। मोबाइल और सामाजिक माध्यम रचना की पहुँच बढ़ा

सकते हैं, साथ ही अधूरे पाठ, तात्कालिक प्रतिक्रिया और क्षणिक दृश्यता का दबाव भी उत्पन्न कर सकते हैं। प्रश्न माध्यम के उत्तरदायी उपयोग का है। संक्षिप्त प्रस्तुति यदि पाठक को मूल पुस्तक की ओर मोड़े, प्रश्न जगाए और गम्भीर संवाद का अवसर बनाए, तो उसकी साहित्यिक उपयोगिता है। बदलते माध्यमों के इस प्रश्न से आगे खण्ड सृजन के अनुशासन और नियमितता पर भी विचार करता है। अध्ययन, अवलोकन, पुनर्लेखन और आवश्यक विराम को भी इस नियमितता में स्थान दिया गया है; निरन्तरता का अर्थ केवल प्रतिदिन लिखे गए पृष्ठों की संख्या नहीं है।

इस सम्पूर्ण विमर्श की रचना-पद्धति ध्यान देने योग्य है। 'पयस्विनी' में संकलित श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के कथन अधिकांश विचार-बिन्दुओं का प्रमुख आधार हैं। कुछ विचार-बिन्दुओं और जीवन-सन्दर्भों को स्पष्ट करने के लिए गजेन्द्र ठाकुर द्वारा लिखित 'जगदीश प्रसाद मण्डल : एकटा बायोग्राफी' को भी सहायक स्रोत के रूप में लिया गया है। चयनित कथन अथवा जीवन-सन्दर्भ विचार के प्रवेश-सूत्र बनते हैं; उसके बाद डॉ. उमेश मण्डल स्वतन्त्र प्रश्न, विश्लेषण और समकालीन अर्थ-विस्तार विकसित करते हैं। मूल स्रोत और उसके आधार पर विकसित विवेचन परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी अपने-अपने बौद्धिक उत्तरदायित्व को बनाए रखते हैं।

'विचार-बिन्दु' की रचनात्मक सम्भावना सूत्र से विमर्श तक विकसित होने की इसी प्रक्रिया में निहित है। इसे उद्धरण-संग्रह अथवा मूल पाठ के सरल पुनर्कथन तक सीमित नहीं किया जा सकता। लेखक इस प्रयोग के लिए 'सूत्र-विमर्शात्मक लघुगद्य' नाम प्रस्तावित करते हैं। यह नामकरण एक विधागत सम्भावना का संकेत है, जिसकी सार्थकता स्रोत के प्रति उत्तरदायित्व, तर्क की स्पष्टता, संक्षिप्तता के अनुशासन और पाठकीय संवाद से परखी जाएगी। छोटा आकार पाठक को रुककर विचार करने का अवसर दे सकता है, यदि रचना अपने मूल प्रश्न से सम्बद्ध रहते हुए अर्थ की परतें खोलती है।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल का जीवन इस वैचारिक यात्रा का एक प्रासंगिक सन्दर्भ है। दोनों खण्डों में प्रस्तुत खेती, श्रम, सामाजिक संघर्ष और सृजन के प्रसंग विचार और कर्म के सम्बन्ध को समझने का अवसर देते हैं। इन जीवन-सन्दर्भों का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवनी प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि स्वनिर्माण

की व्यावहारिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना है। इस कारण स्रोत का सम्मान करते हुए उसे प्रश्न और पुनर्परीक्षण के लिए खुला रखना भी कृति की घोषित पद्धति के अनुरूप है।

जीवन-सन्दर्भों की यह उपस्थिति कृति के वैचारिक धरातल को अमूर्त होने से बचाती है। दोनों खण्डों का स्थानीय आधार भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। मिथिला के खेत, गाँव, लोकगीत, जातिगत सम्बन्ध और भाषा यहाँ ठोस जीवनानुभव की भूमि हैं। इन अनुभवों के गम्भीर विवेचन से श्रम, ज्ञान, न्याय, स्वतन्त्रता और मानवीय गरिमा के व्यापक प्रश्न खुलते हैं। इस अर्थ में स्थानीयता अपने समाज को गहराई से समझते हुए व्यापक मानवीय प्रश्नों तक पहुँचने का माध्यम बनती है। मैथिली जटिल सामाजिक प्रश्नों और वैचारिक संवाद की समर्थ भाषा के रूप में इस प्रक्रिया में सक्रिय होती है।

'स्वनिर्मित जीवन' का मूल आग्रह मनुष्य जिस संसार को पाता है, उसे विवेकपूर्ण कर्म के माध्यम से रूपान्तरित करने का है। समाज मनुष्य की चेतना को आकार देता है; मनुष्य प्रश्न, निर्णय और सामूहिक प्रयास से समाज को प्रभावित करता है। इस पारस्परिकता से जन्मा जीवन-बोध जब सृजन में प्रवेश करता है, तो पाठक के लिए नए संवाद की सम्भावना खोलता है। स्वनिर्माण तब कोई अन्तिम उपलब्धि नहीं, बल्कि सीखने, आत्मपरीक्षण करने और उत्तरदायी कर्म में सक्रिय रहने की निरन्तर प्रक्रिया बन जाता है। 'समाज के भीतर मनुष्य' और 'सृजन के भीतर समाज' इस प्रक्रिया के दो परस्पर सम्बद्ध धरातल हैं। दोनों को एक साथ पढ़ना जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को अधिक सजग और मानवीय दृष्टि से समझने का अवसर देता है।

**– डॉ. राम अशीष सिंह**

**पूर्व प्रधानाचार्य**
एच.पी.एस. कॉलेज, निर्मली
बी.एन. मण्डल विश्वविद्यालय
मधेपुरा (बिहार)
मो.: +91 99316 63744

# दो शब्द

✺

'स्वनिर्मित जीवन' का हिंदी अनुवाद करते हुए कई बार ऐसा लगा कि मैं केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्द नहीं ले जा रही हूँ, बल्कि उन विचारों के साथ भी चल रही हूँ, जिनसे यह पुस्तक बनी है। मैथिली और हिंदी एक-दूसरे के निकट हैं, फिर भी दोनों का अपना स्वभाव, अपनी लय और अपनी अभिव्यक्ति है। इस निकटता के कारण कई वाक्य सहजता से हिंदी में आ जाते थे, लेकिन कुछ स्थान ऐसे भी थे जहाँ किसी एक शब्द, भाव या वाक्य पर देर तक ठहरना पड़ता था।

अनुवाद की प्रक्रिया में यह अनुभव बार-बार हुआ कि निकट भाषाओं का अनुवाद कई बार दिखने में जितना सरल लगता है, वास्तव में उतना होता नहीं। एक ही शब्द दोनों भाषाओं में प्रचलित हो सकता है, लेकिन उसका भाव, प्रयोग और प्रसंग अलग-अलग हो सकते हैं। कई बार मूल मैथिली का कोई वाक्य अपने पूरे अर्थ के साथ तभी खुलता था, जब उसे केवल शब्दों से नहीं, उसके सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ से भी पढ़ा जाए। ऐसे स्थानों पर शब्द का सीधा हिंदी रूप पर्याप्त नहीं था; पूरे प्रसंग को समझकर वाक्य को हिंदी की प्रकृति के अनुरूप सँवारना पड़ा।

मेरी सबसे बड़ी कोशिश यही रही कि हिंदी पढ़ते समय पाठक को भाषा सहज लगे, लेकिन इस सहजता में मूल मैथिली का विचार, संवेदना और प्रश्नधर्मी स्वर हल्का न पड़ जाए। जहाँ वाक्य-विन्यास बदलना आवश्यक हुआ, वहाँ भी मूल आशय को केन्द्र में रखा गया। अनुवाद करते समय मेरे सामने दो बातें लगातार बनी रहीं- मूल के प्रति निष्ठा और हिंदी की स्वाभाविकता। दोनों के बीच संतुलन साधना इस काम का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा।

इस पुस्तक के साथ काम करते हुए बार-बार मनुष्य और समाज के सम्बन्ध पर लौटना पड़ा। पहले खण्ड 'समाज के भीतर मनुष्य' में यह प्रश्न सामने आता है कि समाज हमारे सोचने, समझने और जीने के ढंग को किस प्रकार प्रभावित करता है। दूसरे खण्ड 'सृजन के भीतर समाज' में यही विचार आगे बढ़कर साहित्य, रचनाकार और सृजन से जुड़ जाता है। अनुवाद के दौरान धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया कि दोनों खण्ड अलग होते हुए भी एक ही वैचारिक यात्रा के दो पड़ाव हैं। पहले खण्ड में मनुष्य समाज के भीतर स्वयं को समझता है, और दूसरे में वही चेतना सृजन के माध्यम से फिर समाज के सामने आती है।

इस अनुवाद का एक निजी अनुभव भी मेरे साथ रहा। कई विचार-बिन्दुओं पर काम करते हुए मुझे स्वयं रुककर सोचना पड़ा। कुछ वाक्य केवल अनुवाद करने के लिए नहीं थे; वे अपने व्यवहार, अपने समाज और अपनी बनी-बनाई धारणाओं की ओर फिर से देखने के लिए भी प्रेरित करते थे। कई बार किसी अंश का अनुवाद पूरा करने के बाद भी उसका प्रश्न मन में बना रहता था। इस कारण यह काम मेरे लिए केवल भाषिक अभ्यास नहीं रहा, बल्कि धीरे-धीरे एक पाठकीय और वैचारिक अनुभव भी बनता गया।

एक अनुवादक के रूप में मुझे यह भी ध्यान रखना था कि मूल कृति की स्थानीयता कहीं हिंदी में आते हुए धुँधली न हो जाए। मिथिला का लोकजीवन, श्रम, भाषा, स्त्री-अनुभव, जातिगत सम्बन्ध, परम्परा और सामाजिक व्यवहार इस पुस्तक के विचारों की जमीन हैं। इन्हें सामान्य शब्दों में बदल देना आसान था, लेकिन ऐसा करने से मूल अनुभव की ठोसता कम हो सकती थी। इसलिए जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ उस स्थानीय अनुभव और सांस्कृतिक सन्दर्भ को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

अनुवाद करते समय मैंने यह सावधानी भी रखी कि मूल पाठ में जो कहा गया है, वही हिंदी में आए। अपनी ओर से उसे सजाने, सरल बनाने या अनावश्यक रूप से विस्तार देने से बचने का प्रयास किया है। किसी विचार को हिंदी पाठक के लिए अधिक स्पष्ट बनाने की आवश्यकता जहाँ महसूस हुई, वहाँ भी मूल के आशय और दिशा को ध्यान में रखा गया। मुझे लगता है कि अनुवादक का काम मूल रचना पर अपनी भाषा थोपना नहीं, बल्कि उसके अर्थ और स्वर को दूसरी भाषा में स्वाभाविक जीवन देना है।

इस पूरी प्रक्रिया में मूल मैथिली पाठ की ओर बार-बार लौटना मेरे लिए आवश्यक रहा। कई जगह पहले किया गया अनुवाद दोबारा पढ़ने पर बदला, कहीं कोई शब्द अधिक उपयुक्त लगा, तो कहीं वाक्य की लय को फिर से सँवारना पड़ा। इस पुनर्पाठ ने मुझे यह समझने में मदद की कि अनुवाद एक बार में पूरा हो जाने वाला काम नहीं, यद्यपि पढ़ने, सोचने और फिर से लिखने की निरन्तर प्रक्रिया है।

अब यह पुस्तक हिंदी पाठकों के सामने है। मेरी इच्छा केवल इतनी है कि पाठक इसे सहजता से पढ़ सकें, इसके विचारों से जुड़ सकें और जहाँ कोई प्रश्न उन्हें भीतर तक छुए, वहाँ कुछ देर ठहरकर अपने अनुभव से भी उसे देख सकें। यदि यह अनुवाद मूल मैथिली कृति और हिंदी पाठक के बीच ऐसा संवाद बना सके, तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

**– पल्लवी मण्डल**

# स्वनिर्मित जीवन की वैचारिक यात्रा

✳

मनुष्य जीवन पाता है, पर जीवन का अर्थ उसे स्वयं गढ़ना पड़ता है। जन्म, परिवार, समाज, भाषा, जाति, लिंग, क्षेत्र और आर्थिक परिस्थितियाँ उसके अपने निर्णय से निर्धारित नहीं होतीं। वह एक ऐसे संसार में जन्म लेता है, जो उसके आने से पहले ही बना हुआ होता है और जहाँ परम्परा, विश्वास, सम्बन्ध, सुविधा, अभाव और असमानता के अनेक रूप पूर्व से ही उपस्थित रहते हैं। किन्तु परिस्थितियों का निष्क्रिय परिणाम बनकर जीना उसकी नियति नहीं है। मनुष्य में अपनी परिस्थितियों को समझने, उन्हें परखने और विचार तथा कर्म के माध्यम से उनकी दिशा बदलने की सामर्थ्य भी होती है। 'स्वनिर्मित जीवन' इसी मानवीय सामर्थ्य की वैचारिक यात्रा है।

यहाँ 'स्वनिर्मित' मनुष्य का अर्थ समाज से अलग, अपने आप में पूर्ण या केवल निजी सफलता के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति नहीं है। कोई भी मनुष्य अकेले अपना निर्माण नहीं करता। मनुष्य को भाषा समाज से मिलती है, अनुभव जीवन से मिलता है, ज्ञान अनेक पीढ़ियों के श्रम से विकसित होता है और चेतना सम्बन्धों तथा संघर्षों के बीच आकार ग्रहण करती है। मनुष्य स्वयं निर्णय लेता है, पर उसके निर्णयों का प्रभाव दूसरे मनुष्यों और समाज पर भी पड़ता है। इसलिए स्वनिर्माण मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है।

स्वयं को बनाने की पहली शर्त स्वयं को समझना है। हमने जिन मान्यताओं को स्वीकार कर रखा है, वे कहाँ से आई हैं? जिसे हम परम्परा मानते हैं, क्या वह सबके हित में है या केवल कुछेक लोगों के वर्चस्व को बनाए रखती है? क्या हमारा व्यवहार हमारे घोषित विचारों के अनुरूप है? श्रम के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है, और स्त्रीयों को लेकर क्या सोचते हैं, किसान, मजदूर, दलित-पिछड़े समाज तथा हमसे असहमत मनुष्य को किस दृष्टि से देखते हैं? ऐसे प्रश्न केवल समाज की आलोचना नहीं करते, बल्कि प्रश्न करने वाले व्यक्ति को अपने

भीतर देखने के लिए भी बाध्य करते हैं। परिवर्तन की माँग करने वाले मनुष्य को अपने भीतर जमी मान्यताओं, अहंकार और भेदभाव की भी परीक्षा करनी पड़ती है।

इसी कारण 'स्वनिर्मित जीवन' सफलता के आसान सूत्र प्रस्तुत करने वाली कोई प्रेरक पुस्तक नहीं है। यहाँ सफलता धन, पद, प्रसिद्धि या बाहरी उपलब्धियों से निर्धारित नहीं होती। जीवन के निर्माण का अर्थ है अपनी बुद्धि का उपयोग करना, सत्य को परखना, अन्याय को पहचानना, सम्बन्धों में सम्मान विकसित करना, श्रम का मूल्य समझना और अपने कर्मों के सामाजिक परिणामों की जिम्मेदारी लेना। जीवन का निर्माण तभी होता है, जब विचार व्यवहार में उतरते हैं। केवल अच्छी बातें कहना या लिखना स्वनिर्माण नहीं है; वास्तव में उन बातों के अनुरूप जीने का निरन्तर प्रयास ही स्वनिर्माण है।

मनुष्य का निर्माण अपनी विरासत को अस्वीकार करने से भी नहीं होता। भाषा, लोकस्मृति, गीत, कृषि, पारिवारिक सम्बन्ध, सामूहिकता और पूर्वजों के अनुभव जीवन को आधार देते हैं। किन्तु विरासत में केवल जीवनदायी मूल्य ही नहीं होते; उसके भीतर रूढ़ि, भेदभाव और वर्चस्व के संस्कार भी आ सकते हैं। विवेकपूर्ण जीवन न तो विरासत को आँखें मूँदकर स्वीकार करता है और न ही क्रोध में उसे पूरी तरह त्याग देता है। वह परम्परा में निहित जीवनदायी तत्त्वों को सहेजता है और अमानवीय तत्त्वों की पुनर्परीक्षण करता है। इस दृष्टि से अतीत से सीखते हुए आगे बढ़ना स्वनिर्माण की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल ने समाज, संस्कृति, साहित्य और जीवन के अनेक प्रश्न उठाए हैं। उनके कथनों में लोकजीवन का अनुभव, श्रम का महत्त्व, सामाजिक असमानता की पहचान और परिवर्तन का आग्रह बार-बार सामने आता है। वे तैयार उत्तर देने की अपेक्षा पाठक को विचार करने के लिए अधिक प्रेरित करते हैं। उनके प्रश्न पाठक को बाहर के समाज को देखने के साथ-साथ अपने भीतर झाँकने का अवसर भी देते हैं। प्रस्तुत विचार-बिंदु उसी प्रश्नधर्मी चेतना से आरम्भ हुए हैं।

यह पुस्तक 'पयस्विनी' का सारांश या मूल पुस्तक का विकल्प नहीं है। चुने गए कथन अथवा प्रासंगिक जीवन-संदर्भ यहाँ वैचारिक प्रवेश-सूत्र हैं; उनके आधार पर विकसित प्रश्न, विश्लेषण और समकालीन संदर्भ इस पुस्तक का स्वतंत्र

वैचारिक विमर्श हैं।

इस पुस्तक के दोनों खण्डों में कुल सौ विचार-बिंदु मिलकर एक विस्तृत वैचारिक यात्रा की रचना करते हैं। प्रत्येक विचार-बिंदु अपने स्थान पर स्वतंत्र रचना है, किन्तु यदि उन्हें अलग-अलग पढ़कर छोड़ दिया जाए, तो उनका सामूहिक अर्थ पूरी तरह सामने नहीं आ पाएगा। एक प्रश्न दूसरे प्रश्न के लिए भूमि तैयार करता है। संस्कृति की चर्चा श्रम और सामाजिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न तक पहुँचती है। शिक्षा और स्त्री-अनुभव का विमर्श समानता तथा ज्ञान के अधिकार से जुड़ता है। साहित्य की चर्चा रचनाकार के दायित्व, पाठक की सक्रियता और समाज की परिवर्तनशील चेतना तक आगे बढ़ती है। इस प्रकार अलग-अलग विचार-बिंदु मिलकर एक परस्पर सम्बद्ध वैचारिक संरचना का निर्माण करते हैं।

पुस्तक को दो खण्डों में केवल पाठकीय सुविधा के लिए नहीं बाँटा गया है। दोनों खंड जीवन-निर्माण के दो परस्पर सम्बद्ध पक्ष प्रस्तुत करते हैं। पहला खंड 'समाज के भीतर मनुष्य' यह समझने का प्रयास करता है कि समाज मनुष्य को किस प्रकार गढ़ता है और मनुष्य अपनी चेतना तथा कर्म से समाज को किस प्रकार बदल सकता है। चूकि शब्द और विचार से तमाम बदलाव संभव जान पड़ते हैं। दूसरा खंड 'सृजन के भीतर समाज' साहित्य, भाषा, लेखक, पाठक और रचनात्मक दायित्व के भीतर उपस्थित सामाजिक जीवन की पहचान करता है। पहले खंड का मूल प्रश्न है: मनुष्य कैसे बनता है? दूसरा खंड पूछता है: चेतन मनुष्य अपने सृजन के माध्यम से समाज के निर्माण में क्या भूमिका निभा सकता है?

'समाज के भीतर मनुष्य' में संस्कृति कोई बाहरी सजावट नहीं है; वह मनुष्य की जीवन-पद्धति, सम्बन्धों, श्रम और मूल्य-बोध के रूप में सामने आती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मैथिल संस्कृति किन लोगों के जीवन से बनी है, मौखिक परम्परा में किसका इतिहास सुरक्षित है, शिक्षा किनके लिए वर्जित रही, आधुनिक साधनों के बीच भी विचार सामंती क्यों बने रहते हैं और जाति, लिंग तथा सामाजिक हैसियत के आधार पर निर्मित दूरियों को किस प्रकार समझा जाए। यह खंड मनुष्य को समाज की उपज मानता है, किन्तु उसे परिवर्तन के सक्रिय वाहक के रूप में भी देखता है।

'सृजन के भीतर समाज' साहित्य को जीवन से अलग कोई शब्द-संसार

नहीं मानता। रचनाकार किस समाज से आता है, वह किसके जीवन को अपनी रचना में स्थान देता है, उसकी दृष्टि किसके पक्ष में खड़ी होती है, पाठक तक पहुँचना उसके लिए क्यों आवश्यक है और पुरस्कार, प्रचार तथा प्रतिष्ठा से अलग किसी रचना का वास्तविक मूल्य कैसे तय होता है, ये इस खंड के प्रमुख प्रश्न हैं। सृजन केवल लेखक की निजी उपलब्धि नहीं है; वह समाज की स्मृति, आत्मपरीक्षण, संवाद और परिवर्तन का माध्यम भी है।

मैं जानती हूँ कि पयस्विनी के दोनों खंड एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज की गहरी समझ के बिना उत्तरदायी सृजन संभव नहीं और सृजनात्मक अभिव्यक्ति के बिना समाज के अनेक अनुभव अनकहे रह जाते हैं। पहला खंड उस भूमि तक ले जाता है, जहाँ मनुष्य की चेतना बनती है। दूसरा खंड उसी चेतना की अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक उत्तरदायित्व की पड़ताल करता है। एक ओर जीवन विचार को जन्म देता है, दूसरी ओर विचार और साहित्य जीवन को नई दिशा देते हैं।

इस पुस्तक में स्वनिर्माण का अर्थ केवल निजी सुधार नहीं है। जाति की दीवार बनाए रखकर, स्त्रियों को समान अवसरों से वंचित करके, श्रम करने वालों को छोटा समझकर और सामाजिक संस्थाओं को अपने प्रभाव का साधन बनाकर कोई व्यक्ति स्वयं को सचेत या आधुनिक नहीं कह सकता। मनुष्य के स्वनिर्माण की कसौटी उसका सामाजिक व्यवहार है। वह दूसरों की गरिमा को कितना स्वीकार करता है, असहमत व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करता है और अपनी सुविधा तथा दूसरे के अधिकारों के बीच न्यायपूर्ण संतुलन वह कैसे बनाता है? अन्ततः इन्हीं बातों से तय होता है कि उसका स्वनिर्माण केवल विचारों तक सीमित है या जीवन-व्यवहार में भी उतर सका है।

स्वनिर्माण एक बार पूरा हो जाने वाला कार्य नहीं है। मनुष्य निरन्तर सीखता है, प्रश्न करता है, अपनी भूल स्वीकार करता है और अपनी धारणाओं को सुधारता रहता है। जो व्यक्ति अपने विचार को अन्तिम सत्य मान लेता है, उसका विकास वहीं ठहर जाता है। नए अनुभवों, प्रमाणों और दूसरे मनुष्यों के जीवन-सत्य को स्वीकार करने की विनम्रता स्वनिर्माण का आवश्यक गुण है। बदलते समय के साथ अपने विवेक को जाग्रत रखना जीवन के प्रति सक्रिय बने रहने का संकेत है।

इस यात्रा में पाठक केवल दर्शक नहीं है। प्रत्येक विचार-बिंदु उसे अपने जीवन, समाज और मान्यताओं के साथ संवाद करने का अवसर देता है। प्रस्तुत निष्कर्ष अन्तिम आदेश नहीं, विचार-यात्रा के अगले पड़ाव हैं। पाठक यदि किसी कथन पर ठहरता है, उसके पक्ष-विपक्ष पर विचार करता है, अपने अनुभव से उसकी तुलना करता है अथवा उसके आधार पर नए प्रश्न उठाता है, तो वह इस वैचारिक यात्रा में स्वयं सहभागी हो जाता है। पुस्तक की सार्थकता केवल उसके पढ़े जाने में नहीं, बल्कि पाठक के भीतर विचार की गति उत्पन्न करने में है।

'स्वनिर्मित जीवन' अन्ततः मनुष्य की सम्भावनाओं में विश्वास की पुस्तक है। समाज मनुष्य को सीमाएँ देता है, किन्तु उसी समाज में उन सीमाओं को बदलने की सामर्थ्य भी जन्म लेती है। परम्परा मूल्य देती है, किन्तु विवेक उनकी परीक्षा करता है। साहित्य प्रश्न देता है, किन्तु उत्तर जीवन में खोजने पड़ते हैं। मनुष्य अपनी परिस्थितियों को पूरी तरह चुन नहीं सकता, पर उन परिस्थितियों के प्रति अपनी दृष्टि, अपने निर्णय और अपने कर्मों का निर्माण अवश्य कर सकता है।

मुझे लगता है कि जीवन हमें मिलता है; पर उसका मानवीय अर्थ हमें स्वयं गढ़ना पड़ता है। स्वयं को बनाते हुए हम समाज को भी बनाते हैं। जब हम समाज को अधिक न्यायपूर्ण, संवेदनशील और विवेकशील बनाने का प्रयास करते हैं, तब हमारा अपना जीवन भी नया अर्थ ग्रहण करता है।

यही 'स्वनिर्मित जीवन' की मूल वैचारिक यात्रा है।

# विचार-बिंदु : सूत्र से विमर्श तक

किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक की एक पंक्ति कई बार अपने भीतर पूरा विचार-संसार समेटे रहती है। पढ़ते समय वह पंक्ति पाठक को ठहरने पर विवश करती है, प्रश्न जगाती है और अपने समय, समाज तथा जीवन को नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा देती है। मूल लेखक का कथन जब पाठक के अनुभव और वर्तमान के प्रश्नों से जुड़ता है, तब उसका अर्थ पुस्तक के पन्नों से बाहर निकलकर व्यापक वैचारिक संवाद का रूप ग्रहण करता है। 'विचार-बिंदु' इसी संवाद से जन्मा रचनात्मक रूप है।

विचार-बिंदु का आरम्भ मूल पुस्तक से चुने गए किसी विचार-सूत्र से होता है। वह विचार-सूत्र केवल आकर्षक उद्धरण नहीं होता। उसका चयन इस आधार पर किया जाता है कि उसमें समाज, साहित्य, संस्कृति, भाषा, शिक्षा, श्रम, मनुष्य, प्रकृति अथवा जीवन से जुड़े किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न को खोलने की सामर्थ्य हो। उद्धृत पंक्ति आरम्भ-बिंदु होती है, अन्तिम निष्कर्ष नहीं। उसके भीतर निहित अर्थ, प्रश्न और सम्भावनाओं को खोलना विचार-बिंदु का वास्तविक कार्य है।

'सूत्र' का स्वभाव संक्षिप्त होता है। वह संकेत देता है, सम्पूर्ण व्याख्या नहीं। एक या कुछ पंक्तियों में किसी बड़े अनुभव का सार समाया हो सकता है। 'विमर्श' उसी सार को खोलता है। वह पूछता है कि यह कथन किस सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न हुआ, इसके भीतर कौन-सा प्रश्न उपस्थित है, वर्तमान जीवन से इसका क्या सम्बन्ध है और इसे पढ़ने के बाद हमें अपने विचार तथा व्यवहार के किस पक्ष को नई दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। सूत्र और विमर्श के इसी सम्बन्ध से विचार-बिंदु की आन्तरिक संरचना निर्मित होती है।

प्रत्येक विचार-बिंदु के भीतर सामान्यतः चार वैचारिक गतियाँ सक्रिय रहती हैं। पहली गति मूल पुस्तक से चुना गया विचार-सूत्र है। दूसरी उसके अर्थ

को खोलती है। तीसरी उस अर्थ को समाज, साहित्य, संस्कृति और जीवन के व्यापक संदर्भ से जोड़ती है। चौथी गति पाठक को कोई तैयार आदेश या अन्तिम निष्कर्ष देने के बजाय नए प्रश्न, आत्मपरीक्षण अथवा मानवीय सम्भावना की ओर ले जाती है। ये चारों गतियाँ रचना में हमेशा अलग-अलग खण्डों के रूप में स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं, किन्तु एक-दूसरे से जुड़कर उसके सम्पूर्ण वैचारिक प्रवाह को आगे बढ़ाती रहती हैं।

इसी कारण विचार-बिंदु उद्धरण-संग्रह नहीं है। उद्धरण-संग्रह में मूल कथन को चुनकर प्रस्तुत करना ही मुख्य कार्य होता है। विचार-बिंदु में उद्धरण के बाद वैचारिक यात्रा आरम्भ होती है। मूल पंक्ति एक द्वार खोलती है, किन्तु रचना उस द्वार पर रुकती नहीं। वह भीतर प्रवेश करती है, अर्थ की परतों को देखती है, प्रश्न उठाती है और उन प्रश्नों को वर्तमान जीवन के सामने रखती है। यदि उद्धरण रचना का बीज है, तो विमर्श उसका अंकुरण और विस्तार है।

परम्परागत निबन्ध से विचार-बिंदु की भिन्नता भी स्पष्ट है। निबन्धकार सामान्यतः अपना विषय स्वयं चुनता है और स्वतंत्र रूप से उसका विस्तार करता है। विचार-बिंदु में लेखक की स्वतंत्रता मूल पाठ के प्रति उत्तरदायित्व से जुड़ी रहती है। वह अपने विचार अवश्य प्रस्तुत करता है, किन्तु उन विचारों का आरम्भ किसी पूर्ववर्ती कथन से होता है। मूल कथन का मनमाना अर्थ निकालना, उसका प्रसंग बदल देना अथवा उसे अपने निष्कर्ष का प्रमाण मात्र बना लेना इस रचनारूप का उद्देश्य नहीं है। विचार-बिंदु स्वतंत्र चिन्तन है, किन्तु उसकी यह स्वतंत्रता स्रोत से सम्बन्ध तोड़कर नहीं, बल्कि उसके मूल आशय और प्रसंग को ध्यान में रखते हुए विकसित होती है।

यह पुस्तक-समीक्षा या मूल कथन की व्याख्या मात्र नहीं है। समीक्षा में सामान्यतः सम्पूर्ण कृति, उसके रचना-विधान, उपलब्धियों, सीमाओं और साहित्यिक मूल्य पर विचार किया जाता है। व्याख्या में मूल कथन का अर्थ स्पष्ट करना प्रमुख उद्देश्य होता है। विचार-बिंदु मूल पाठ का अर्थ खोलता अवश्य है, किन्तु वहीं रुकता नहीं। वह उस अर्थ को वर्तमान समाज, लोकजीवन और पाठक के अनुभव से जोड़ता है। इस रूप में यह मूल रचना का पुनर्कथन नहीं, उसके साथ किया गया उत्तरदायी वैचारिक संवाद है।

मूल लेखक और विचार-बिंदुकार की भूमिका यहाँ स्पष्ट रहना आवश्यक

है। उद्धृत कथन मूल लेखक श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के हैं; इसलिए उनके प्रसंग, मूल आशय और भाषिक स्वर का सम्मान बनाए रखना अनिवार्य है। उद्धरण के बाद विकसित तर्क, प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष विचार-बिंदुकार की जिम्मेदारी हैं। ये दोनों स्वर परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु एक-दूसरे में विलीन नहीं होते। मूल लेखक पर ऐसे विचार आरोपित नहीं किए जा सकते, जिन्हें उन्होंने स्पष्ट रूप से नहीं कहा है। इसी प्रकार विचार-बिंदुकार अपने विचारों की जिम्मेदारी मूल लेखक पर नहीं छोड़ सकता। यह भेद रचनात्मक स्पष्टता और बौद्धिक ईमानदारी का आधार है।

उद्धरण की शुद्धता इस रचनारूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी पंक्ति को उसके मूल रूप, संदर्भ, पुस्तक के संस्करण और पृष्ठ-संख्या के साथ प्रस्तुत करना पाठक के प्रति उत्तरदायित्व है। छोटा-सा उद्धरण भी प्रसंग से काट दिए जाने पर भिन्न या गलत अर्थ दे सकता है। इसलिए चुनी गई पंक्ति के आसपास के प्रसंग को समझकर ही उसका अर्थ-विस्तार किया जाना उचित है। विचार-बिंदुकार को यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि उसकी व्याख्या मूल कथन के प्रसंग और आशय के साथ न्याय करे। सूत्र छोटा हो सकता है, किन्तु उसका चयन और अर्थ-विस्तार सावधान अध्ययन पर आधारित होना आवश्यक है।

विचार-बिंदु का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है, किन्तु छोटे आकार का अर्थ विचार का सरलीकरण या सतहीपन नहीं है। इस रचनारूप में संक्षिप्तता एक अनुशासन है। प्रत्येक अनुच्छेद का मूल प्रश्न से जुड़ा रहना आवश्यक है। अनावश्यक प्रसंग, पुनरावृत्ति और प्रदर्शनकारी विस्तार से बचते हुए विचार को सघन रूप देना जरूरी है। एक विचार-बिंदु अपने भीतर पूर्णता का अनुभव दे, किन्तु पाठक के मन में विचार की अगली यात्रा के लिए स्थान भी छोड़े, यह उसकी महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कसौटी है।

प्रत्येक विचार-बिंदु स्वतंत्र रूप से पढ़ा जा सकता है। किन्तु एकत्र होने पर वे छिटपुट टुकड़ों का समूह नहीं रह जाते। किसी एक पुस्तक की अनेक पंक्तियाँ, विषय और प्रश्न क्रमशः मिलकर एक व्यापक वैचारिक भूगोल बनाते हैं। समाज, संस्कृति, शिक्षा, श्रम, स्त्री, जाति, साहित्य, भाषा, विज्ञान, प्रकृति, राजनीति, सृजन और मानवीय सम्बन्धों के प्रश्न आपस में जुड़ते चले जाते हैं। फलतः प्रत्येक रचना स्वतंत्र होते हुए भी सम्पूर्ण पुस्तक की वैचारिक यात्रा का

एक आवश्यक पड़ाव बन जाती है।

इन रचनाओं का आरम्भ भले ही छोटे सार्वजनिक आलेखों के रूप में हुआ हो, किन्तु पुस्तकाकार रूप ग्रहण करने के बाद वे तत्कालीन माध्यम और प्रसंग तक सीमित नहीं रह जातीं। पुस्तक में सम्मिलित होने के साथ रचना का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। तब क्षणिक प्रतिक्रिया, किसी विशेष प्रसंग की टिप्पणी या तत्काल ध्यान आकर्षित करने वाला कथन मात्र पर्याप्त नहीं रहता। आवश्यक होता है कि अलग-अलग विचार-बिंदुओं के बीच वैचारिक क्रम बना रहे, विषयों का उचित संतुलन हो, स्रोत प्रामाणिक हों और रचना समय बीत जाने के बाद भी अर्थपूर्ण ढंग से पढ़ी जा सके। इस रूप में पुस्तक का प्रत्येक विचार-बिंदु किसी एक दिन की प्रतिक्रिया न रहकर ऐसा वैचारिक लघुगद्य बनता है, जो पाठक को बार-बार पढ़ने, सोचने और नए संदर्भों में उसके अर्थ को परखने का अवसर देता है।

विचार-बिंदु पाठक से निष्क्रिय सहमति नहीं माँगता। उसका उद्देश्य यह नहीं है कि पाठक प्रत्येक निष्कर्ष को बिना प्रश्न स्वीकार कर ले। इसके विपरीत, वह पाठक को मूल उद्धरण, प्रस्तुत तर्क और अपने जीवनानुभव के बीच तुलना करने का अवसर देता है। पाठक सहमत हो सकता है, असहमत हो सकता है, किसी अधूरे पक्ष को पहचान सकता है अथवा नया प्रश्न जोड़ सकता है। जब रचना पाठक के भीतर विचार की स्वतंत्र गति उत्पन्न करती है, तभी उसका उद्देश्य सार्थक होता है।

इस रचनारूप की एक विशेष सामर्थ्य यह है कि स्थानीय अनुभव से व्यापक मानवीय प्रश्नों तक पहुँचा जा सकता है। मिथिला के खेत, गाँव, पोखर, संस्कार-गीत, भाषा, कृषि-संस्कृति, जातिगत संरचना, स्त्रियों का जीवन, श्रमिकों के अनुभव और साहित्यिक संस्थाएँ अपने विशिष्ट सामाजिक संदर्भ रखते हैं। किन्तु इन संदर्भों के भीतर उठने वाले प्रेम, न्याय, समानता, श्रम, स्वतंत्रता, स्मृति, वर्चस्व, परिवर्तन और मनुष्यता से सम्बन्धित प्रश्न व्यापक हैं। व्यापक होने के लिए स्थानीयता को छोड़ना आवश्यक नहीं; स्थानीय जीवन का गहरा अध्ययन ही व्यापक मानवीय अनुभव और प्रश्नों तक पहुँचा सकता है।

मैथिली गद्य में इस प्रकार के लेखन का अपना महत्त्व है। मैथिली केवल भाव, स्मृति और सांस्कृतिक गौरव की भाषा नहीं; वह जटिल सामाजिक प्रश्नों,

तार्किक विश्लेषण और आधुनिक वैचारिक संवाद की समर्थ भाषा भी है। विचार-बिंदु लोकजीवन के शब्दों, साहित्यिक संवेदना और वैचारिक स्पष्टता को एक साथ जोड़ने का प्रयास करता है। इस माध्यम से भाषा केवल अपने समाज को अभिव्यक्त नहीं करती, बल्कि उसे अपने ही जीवन और मान्यताओं की पुनर्परीक्षा करने की सामर्थ्य भी देती है।

'पयस्विनी' में समाज, संस्कृति, साहित्य, लोकजीवन और मनुष्य के सम्बन्धों पर ऐसे अनेक सूत्र हैं, जो पाठक को ठहरकर सोचने और प्रश्न करने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रस्तुत विचार-बिंदु उन्हीं सूत्रों को 'स्वनिर्मित जीवन' के मूल भाव से जोड़ते हैं, जहाँ मनुष्य समाज के भीतर अपना निर्माण करता है और अपने विचार तथा कर्म से समाज-निर्माण में सहभागी होता है।

इस रचनारूप को 'सूत्र-विमर्शात्मक लघुगद्य' कहा जा सकता है। यह नाम कोई अन्तिम विधागत घोषणा नहीं, बल्कि एक रचनात्मक प्रस्ताव है। साहित्य का कोई लेखन-रूप केवल नामकरण से स्थापित नहीं होता; उसकी पहचान उसके रचनात्मक अनुशासन, आन्तरिक संरचना, वैचारिक निरन्तरता और पाठकीय सार्थकता से बनती है। प्रस्तुत विचार-बिंदु इस सम्भावना को मैथिली वैचारिक गद्य के एक स्वतंत्र रचनात्मक प्रयोग के रूप में सामने लाते हैं।

मूल पाठ सूत्र देता है। वर्तमान उसे प्रश्न देता है। विचार उसका अर्थ खोलता है। जीवन उसकी कसौटी बनता है। इन चारों के मिलन-बिंदु पर जो लघुगद्य जन्म लेता है, वही 'विचार-बिंदु' है।

# पयस्विनी : प्रश्न, प्रतिरोध और लोकचेतना की पुस्तक

कुछ पुस्तकें किसी एक विषय के क्रमिक विवेचन से अपनी एकता निर्मित करती हैं। कुछ पुस्तकों की सामग्री अलग-अलग प्रसंगों की होने पर भी उनके भीतर एक मूल वैचारिक चिन्ता निरन्तर सक्रिय रहती है और सारी सामग्री को आपस में जोड़ती है। 'पयस्विनी' में आलेख, निबन्ध, साहित्यिक विमर्श, सम्मेलन के वक्तव्य, जीवन-यात्रा, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद जैसे अनेक रचनारूप एकत्र हैं। बाहर से सामग्री विविध दिखाई देती है, किन्तु भीतर कुछ मूल प्रश्न बार-बार सामने आते हैं। समाज किन लोगों के जीवन और श्रम से बनता है? संस्कृति किनके अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है? साहित्य किसके लिए लिखा जाता है? और मनुष्य अपने जीवन तथा समाज के निर्माण में क्या भूमिका निभा सकता है?

यही प्रश्न 'पयस्विनी' की आन्तरिक एकता निर्मित करते हैं। पुस्तक किसी स्थापित मान्यता को केवल इसलिए स्वीकार नहीं करती कि वह बहुत दिनों से चली आ रही है। वह परम्परा, धर्म, संस्कृति, साहित्य, सामाजिक संस्था और लेखक की भूमिका को प्रश्न की कसौटी पर रखती है। कोई मान्यता कितनी पुरानी है, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर कैसा पड़ता है। वह मनुष्यों को जोड़ती है या बाँटती है? विवेक जगाती है या भय उत्पन्न करती है? लोककल्याण का मार्ग खोलती है या कुछ लोगों के वर्चस्व को स्थायी बनाती है? 'पयस्विनी' की प्रश्नधर्मिता इसी मानवीय कसौटी से विकसित हुई है।

पुस्तक का पहला आलेख 'अवतारवाद' धार्मिक आख्यानों और आस्था

के ऐतिहासिक विकास पर प्रश्न उठाता है। यहाँ मण्डलजी पौराणिक कथाओं को केवल श्रद्धा के घेरे में रखकर नहीं देखते। वे इतिहास, ग्रन्थ, तर्क और मानवीय नैतिकता के आधार पर उनकी परीक्षा करते हैं। उनका मूल आग्रह यह है कि इक्कीसवीं शताब्दी का मनुष्य अपने विवेक का उपयोग करे। यह प्रश्नधर्मिता धर्म-विरोध की सहज घोषणा नहीं, बल्कि मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता का आग्रह है। जो मान्यता न्याय, करुणा और तथ्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, उसकी पुनर्परीक्षा आवश्यक है।

'संस्कार और संस्कार गीत' में मण्डलजी संस्कृति तथा लोकजीवन का दूसरा पक्ष खोलते हैं। संस्कार को पवित्र और अपरिवर्तनीय व्यवस्था मान लेने के बजाय वे उसके सामाजिक निर्माण की प्रक्रिया को देखते हैं। वे पूछते हैं कि आज जिसे मैथिल संस्कृति कहा जाता है, वह वास्तव में मिथिला के विविध सामाजिक समूहों के जीवन को कितना समेटती है। यह प्रश्न सांस्कृतिक इतिहास में किसान, स्त्री, श्रमिक और हाशिये पर रहे समुदायों का स्थान खोजने का आग्रह करता है।

इसी प्रसंग में संस्कार-गीतों का महत्त्व सामने आता है। औपचारिक शिक्षा और लिखित इतिहास से दूर रहे लोगों ने अपने अनुभव, स्मृति और जीवन-बुद्धि को गीतों में सहेजकर रखा। विशेष रूप से स्त्रियों का कण्ठ संस्कार-गीतों के माध्यम से एक अनौपचारिक पाठशाला बन गया। जन्म, विवाह, विदाई, पारिवारिक सम्बन्ध, पीड़ा, आशा, हास्य और प्रतिरोध के अनेक रूप इन गीतों में सुरक्षित हैं। 'पयस्विनी' लोकगीतों को केवल रस्म या मनोरंजन का साधन मानकर छोड़ नहीं देती; वह उन्हें सामाजिक अनुभव, लोकस्मृति और इतिहास को समझने के एक महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में देखती है।

लोकचेतना का अर्थ यहाँ लोकजीवन की भावुक प्रशंसा नहीं है। लोकसमाज के भीतर भी भेदभाव, रूढ़ि, अन्धविश्वास और असमानता हो सकती है। 'पयस्विनी' लोक का पक्ष लेती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह लोकजीवन के प्रत्येक प्रचलन को निर्दोष घोषित करती है। उसकी दृष्टि लोक के श्रम, अनुभव, भाषा और गरिमा के पक्ष में है। जहाँ परम्परा मनुष्य को बाँधती है, वहाँ वह प्रश्न उठाती है; जहाँ लोकबुद्धि जीवन को सहारा देती है, वहाँ उसका महत्त्व स्वीकार करती है। यह विवेकपूर्ण लोकपक्षधरता पुस्तक का महत्त्वपूर्ण

गुण है।

'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' पुस्तक के वैचारिक केन्द्र को और स्पष्ट करता है। मण्डलजी की दृष्टि में संस्कृति कोई निष्पक्ष और आकाश से उतरी हुई व्यवस्था नहीं है। समाज में ज्ञान, लेखन, संस्थाओं, आर्थिक संसाधनों और प्रतिष्ठा पर प्रभाव रखने वाले समूहों की जीवन-पद्धति कई बार व्यापक सामाजिक संस्कृति के रूप में स्थापित हो जाती है। इस प्रक्रिया में दूसरे समूहों की भाषा, श्रम, अनुभव और परम्पराएँ हाशिये पर पड़ जाती हैं। 'पयस्विनी' इसी सांस्कृतिक वर्चस्व को पहचानने का प्रयास करती है और हाशिये के समाज के संघर्ष को मानवीय गरिमा तथा समानता के व्यापक प्रश्न से जोड़ती है।

प्रतिरोध का अर्थ यहाँ केवल विरोध करना नहीं है। प्रतिरोध उन विचारों और व्यवस्थाओं की पहचान से आरम्भ होता है, जो असमानता को स्वाभाविक या पवित्र बनाकर प्रस्तुत करती हैं। जाति, लिंग, कुल, सामाजिक प्रतिष्ठा और ज्ञान पर एकाधिकार मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक संरचनाएँ हैं। इसलिए उनका परिवर्तन भी संभव है। मण्डलजी का प्रतिरोध निराशा में समाप्त नहीं होता; वह अन्याय के विरोध के साथ-साथ नए सम्बन्धों, समानता, श्रम के सम्मान और सामूहिक कल्याण पर आधारित समाज की सम्भावना भी सामने लाता है।

मण्डलजी के विचार केवल पुस्तकों के अध्ययन से विकसित अमूर्त चिन्तन नहीं हैं। उनका जीवन कृषि, सामाजिक संघर्ष, संगठन, लोकसम्पर्क और निरन्तर साहित्य-सृजन से जुड़ा रहा। किसान के रूप में धरती, ऋतु, उत्पादन और श्रम का अनुभव; सामाजिक जीवन में सामंती व्यवस्था और असमानता से सामना; तथा रचनाकार के रूप में साधारण लोगों के जीवन को अभिव्यक्ति देने का निरन्तर प्रयास, ये सब उनके विचारों की पृष्ठभूमि बनते हैं। इसी कारण उनके गद्य में सिद्धान्त के साथ व्यावहारिक जीवन के उदाहरण बार-बार आते हैं।

खेती में नए बीजों का प्रवेश, अस्पताल की स्थापना, एलोपैथिक चिकित्सा का विस्तार और कुएँ की जगह नल के पानी का उपयोग जैसे प्रसंग उनके सामाजिक विश्लेषण में स्थान पाते हैं। ये उदाहरण संकेत करते हैं कि विचार का संघर्ष केवल पुस्तक, मंच या सभागार में नहीं होता। परिवर्तन खेत, घर, अस्पताल और गाँव के दैनिक जीवन में भी घटित होता है। आधुनिक साधनों को

अपना लेने भर से विचार अपने-आप आधुनिक नहीं हो जाते। आधुनिकता तब विकसित होती है, जब मनुष्य प्रमाण, अनुभव, समानता और लोकहित के आधार पर निर्णय लेता है।

'पयस्विनी' में साहित्य का प्रश्न अत्यन्त व्यापक रूप में उपस्थित है। मण्डलजी साहित्य को केवल वर्तमान समाज का स्थिर चित्र दिखाने वाला दर्पण नहीं मानते। उनके लिए साहित्य अतीत, वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध को समझने का माध्यम है। वह समाज के साथ चलता है, आवश्यकता पड़ने पर आगे की राह का संकेत देता है और कठिन समय में परिवर्तनकारी चेतना को सक्रिय करता है। साहित्य का मूल्य केवल अलंकार, प्रसिद्धि या संस्थागत सम्मान से निर्धारित नहीं होता; मूल प्रश्न यह है कि वह मनुष्य के जीवन में कैसी दिशा, संवेदना और चेतना उत्पन्न करता है।

इस दृष्टि में रचनाकार समाज से बाहर खड़ा कोई निष्पक्ष दर्शक नहीं है। वह अपने समय, सामाजिक परिवेश, अनुभव और विचारों से निर्मित व्यक्ति है। किन्तु उसका दायित्व अपनी सीमाओं को पहचानना और अधिक न्यायपूर्ण दृष्टि विकसित करना है। मण्डलजी रचनाकार की ईमानदारी को केवल लेखन का गुण नहीं, जीवन का मूल्य मानते हैं। कथन और कर्म के बीच की दूरी रचनाकार की विश्वसनीयता को कमजोर करती है। इसलिए साहित्यिक सृजन के साथ आत्मपरीक्षण भी आवश्यक हो जाता है।

पुस्तक में संकलित प्रश्नोत्तर उसकी विशेष शक्ति हैं। गजेन्द्र ठाकुर, मुन्नाजी और मुकेश दत्त के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मण्डलजी ने अपनी साहित्य-दृष्टि, जीवन-संघर्ष, कृषि, राजनीति, सामाजिक परिवर्तन, लेखन-आरम्भ, पुरस्कार, प्रचार, अनुवाद, पाठक और मैथिली साहित्य की दशा-दिशा पर खुलकर विचार किया है। यहाँ वे केवल अपनी उपलब्धियाँ नहीं बताते; वे अपनी रचनात्मक स्थिति, सामाजिक पक्षधरता और वैचारिक आधार भी स्पष्ट करते हैं। ये प्रश्नोत्तर पुस्तक के वैचारिक स्वर को एकालाप से निकालकर जीवित संवाद में परिणत करते हैं।

इन उत्तरों में एक विचार निरन्तर उभरता है। मण्डलजी अपनी रचनाओं का मुख्य सामाजिक आधार दबे-कुचले और वंचित लोगों के जीवन को मानते हैं। यह पक्षधरता दयाभाव पर आधारित नहीं है। उनका साहित्य हाशिये के मनुष्य

को करुणा का निष्क्रिय पात्र नहीं बनाता; वह उसके श्रम, बुद्धि, अनुभव और संघर्षशीलता को पहचानता है। समाज के परिवर्तन में वंचित लोग स्वयं सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं, यह विश्वास उनकी रचनात्मक दृष्टि का महत्त्वपूर्ण आधार है।

उनके लिए मुख्यधारा कोई स्थायी और अपरिवर्तनीय संरचना नहीं है। जब प्रचलित धारा समाज के विविध जीवनानुभवों को समेट नहीं पाती, तब नई धाराओं का निर्माण आवश्यक हो सकता है। छोटी धाराएँ मिलकर आगे चलकर व्यापक धारा बन सकती हैं। यह विचार साहित्य के अधिक लोकतान्त्रिक स्वरूप की सम्भावना प्रस्तुत करता है। साहित्यिक इतिहास, संस्था, मंच और मूल्यांकन में उन आवाजों को स्थान मिले, जो बहुत दिनों तक हाशिये पर रही हैं, तभी साहित्य सामाजिक जीवन के व्यापक प्रतिनिधित्व की ओर बढ़ सकता है।

'पयस्विनी' मैथिली भाषा और साहित्य के सम्बन्ध पर भी विचार करती है। भाषा संवाद का माध्यम है, जबकि साहित्य सामाजिक अनुभव की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। दोनों गहरे रूप से जुड़े हैं, किन्तु एक ही वस्तु नहीं हैं। भाषा समाज के अधिकाधिक लोगों तक पहुँचे और साहित्य उन लोगों के जीवन-अनुभवों को अपना विषय बनाए, तभी भाषिक और साहित्यिक विकास का सामाजिक अर्थ गहरा होता है। केवल मंच, संस्था या सीमित पाठक-वर्ग के भीतर घूमता साहित्य अपने सामाजिक आधार को कमजोर कर सकता है।

पुस्तक में सम्मेलन, वेब-कार्यक्रम, 'सगर राति दीप जरय' कथागोष्ठी और साहित्यकारों की जीवन-यात्रा से सम्बन्धित आलेख भी हैं। यह सामग्री साहित्य को केवल लिखित पुस्तक के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक गतिविधि और जीवित सम्बन्ध के रूप में दिखाती है। गोष्ठी, प्रश्नोत्तर, पाठ, विमर्श, प्रकाशन और आलोचना मिलकर साहित्यिक वातावरण निर्मित करते हैं। किन्तु आयोजनों की संख्या या बाहरी चमक मात्र पर्याप्त नहीं है। मूल प्रश्न यही रहता है कि साहित्यिक गतिविधियों से रचना, पाठक और समाज के बीच कोई सार्थक सम्बन्ध विकसित हुआ या नहीं।

'पयस्विनी' का स्वर अनेक स्थानों पर तीक्ष्ण है। वह स्थापित धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक मान्यताओं से असहमति व्यक्त करती है। पाठक उसके प्रत्येक निष्कर्ष से सहमत हो, यह आवश्यक नहीं। पुस्तक स्वयं प्रश्न करने

के अधिकार का समर्थन करती है; इसलिए उसे पढ़ते हुए पाठक भी प्रश्न कर सकता है। प्रमाण, तर्क और जीवनानुभव के आधार पर व्यक्त असहमति पुस्तक का अवमूल्यन नहीं, बल्कि उसकी प्रश्नधर्मी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने की एक सम्भावना है।

'पयस्विनी' को श्रद्धापूर्वक दोहराना उसका उचित पाठ नहीं है। मूल कथन के प्रसंग, सामाजिक आधार, तर्क और वर्तमान अर्थ पर विचार करते हुए उसे संवाद के साथ पढ़ना आवश्यक है। 'स्वनिर्मित जीवन' मूल पुस्तक का स्थान लेने का प्रयास नहीं है; वह उसके कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-सूत्रों से स्वतंत्र संवाद का मार्ग है। पाठक इस विमर्श से मूल पुस्तक की ओर जाए और अपने अनुभव, सहमति, असहमति तथा नए प्रश्नों के साथ उसके अर्थ का विस्तार करे, तभी इस वैचारिक यात्रा की वास्तविक सार्थकता सामने आएगी।

'पयस्विनी' प्रश्नों की पुस्तक है, क्योंकि वह स्वीकृत मान्यताओं को विवेक की कसौटी पर रखती है। यह प्रतिरोध की पुस्तक है, क्योंकि वह वर्चस्व और असमानता की संरचनाओं को पहचानती है। यह लोकचेतना की पुस्तक है, क्योंकि इसके वैचारिक केन्द्र में किसान, श्रमिक, स्त्री, वंचित समाज और साधारण मनुष्य के जीवन-अनुभव उपस्थित हैं। प्रश्न, प्रतिरोध और लोकचेतना की ये तीनों धाराएँ मिलकर ऐसी वैचारिक भूमि तैयार करती हैं, जहाँ मनुष्य अपने जीवन को अधिक विवेकपूर्ण ढंग से गढ़ने और समाज को अधिक निष्पक्ष, न्यायपूर्ण तथा मानवीय दिशा देने की अपनी सामर्थ्य पहचान सकता है।

# प्रवेश : समाज के भीतर मनुष्य

✳

मनुष्य समाज के भीतर जन्म लेता है। उसके जन्म से पहले ही उसके लिए भाषा, परिवार, जाति, धर्म, क्षेत्र, रीति-रिवाज, संबंध और सामाजिक स्थान का एक संसार तैयार रहता है। उसी संसार में उसका पहला परिचय बनता है, चेतना विकसित होती है और जीवन-मूल्य आकार ग्रहण करते हैं। किंतु मनुष्य केवल समाज द्वारा गढ़ा हुआ रूप नहीं है। वह अपने अनुभव, प्रश्न, विचार और कर्म से समाज को भी प्रभावित और परिवर्तित करता है। ‘स्वनिर्मित जीवन’ का पहला खंड ‘समाज के भीतर मनुष्य’ इसी पारस्परिक निर्माण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास है।

समाज की चर्चा कई बार बाहरी व्यवस्थाओं, संस्थाओं और समूहों तक सीमित रह जाती है। किंतु प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था अंततः मनुष्य के विचार, संबंध और व्यवहार में प्रकट होती है। जाति की दीवार केवल पुस्तकों या विधानों में नहीं, मन के भीतर भी खड़ी रहती है। स्त्री की असमानता केवल सामाजिक नियमों में नहीं, परिवार के दैनिक व्यवहार में दिखाई देती है। सामंती मानसिकता केवल पुरानी राजव्यवस्था का अवशेष नहीं; वह आधुनिक साधनों का उपयोग करने वाले मनुष्य के निर्णय और व्यवहार में भी जीवित रह सकती है। इसलिए समाज को समझने के लिए उसकी बाहरी संरचना के साथ-साथ मनुष्य के भीतर के संसार को देखना भी आवश्यक है।

पहले खंड की यात्रा इसी आंतरिक दृष्टि से आरंभ होती है। आरंभिक विचार-बिंदु मण्डलजी की प्रश्नधर्मी चेतना, आत्मबल, जीवन की उलझनों, द्वंद्व, अहंकार और आत्मपरीक्षण पर केंद्रित हैं। यह क्रम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि समाज की आलोचना करने वाले मनुष्य के लिए पहले अपनी स्थिति, पूर्वाग्रह और जिम्मेदारी को समझना आवश्यक है। जो अपने भीतर सुविधा, भय, दायित्व और

स्वार्थ के संघर्ष को नहीं पहचानता, उसके लिए सामाजिक समस्याओं को निष्पक्षता और संवेदनशीलता से देखना कठिन हो सकता है।

प्रश्न करना इस यात्रा का पहला कदम है। प्रश्न बने-बनाए उत्तरों की सीमाओं को उजागर करता है, किंतु प्रश्न केवल दूसरों के विचारों पर ही नहीं उठना चाहिए। अपने विश्वास, व्यवहार और निर्णयों पर भी प्रश्न करना आवश्यक है। मण्डलजी की प्रश्नधर्मी चेतना पाठक को बाहरी व्यवस्था के साथ-साथ अपनी भूमिका की भी परीक्षा करने के लिए प्रेरित करती है। जिस समस्या की हम आलोचना करते हैं, कहीं अपने व्यवहार से उसी को बल तो नहीं दे रहे? हम न्याय की बात करते हैं, पर क्या अपने संबंधों में भी न्यायपूर्ण हैं? इस प्रकार का आत्मपरीक्षण सामाजिक विवेक का आधार बनता है।

इसी से आत्मबल का प्रश्न जुड़ता है। समाज में परिवर्तन केवल दूसरों की पहल या बाहरी सहायता की प्रतीक्षा से नहीं आता। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ है, वहीं से अपने विवेक, सामर्थ्य और जिम्मेदारी को सक्रिय कर सकता है। आत्मबल का अर्थ स्वयं को सबसे अधिक शक्तिशाली मानना नहीं; इसका अर्थ कठिन परिस्थितियों में भी मानवीय निर्णय की अपनी क्षमता को न छोड़ना है। जो मनुष्य अपने जीवन की उलझनों को पहचानता और उन्हें सुलझाने का प्रयास करता है, उसकी दृष्टि धीरे-धीरे स्पष्ट होती है और उसके निर्णयों में आत्मविश्वास बढ़ता है।

पहले दस विचार-बिंदु इसी आंतरिक निर्माण की भूमि तैयार करते हैं। समय के साथ नैतिक कसौटियों की पुनर्परीक्षा, अनुचित व्यवहार और मनुष्य के बीच का भेद, सुविधा और दायित्व का संघर्ष, जीवन के द्वंद्व तथा अहंकार के आवरण जैसे प्रश्न पाठक को अपने भीतर उतरने का अवसर देते हैं। खंड के आगे का सामाजिक विश्लेषण इसी आत्मपरीक्षण से आधार पाता है। स्वयं को पूरी तरह निर्दोष मानकर की गई आलोचना आरोप में बदल सकती है; अपने हिस्से की जिम्मेदारी पहचानते हुए किया गया विश्लेषण परिवर्तन का मार्ग खोल सकता है।

ग्यारहवें विचार-बिंदु से यात्रा संस्कृति, इतिहास और लोकजीवन की व्यापक भूमि में प्रवेश करती है। आदिम साझेदारी से कृषि-संस्कृति तक मनुष्य के सामूहिक जीवन के विकास पर विचार होता है। कृषि केवल अन्न उत्पादन का साधन नहीं; वह धरती, पानी, ऋतु, परिवार, पशुधन, श्रमिक, पड़ोसी और लोकज्ञान के पारस्परिक संबंधों से भी जुड़ी है। कृषि-जीवन यह समझाता है कि

मनुष्य का निर्माण अकेले नहीं होता। श्रम, सहयोग, धैर्य और बाँटकर जीने के संस्कार सामाजिक जीवन को आधार देते हैं।

किंतु संस्कृति का नाम लेते ही केवल गौरव के भाव में बह जाना उचित नहीं। प्रश्न यह भी है कि मैथिल संस्कृति किन-किन लोगों के जीवनानुभवों से बनी है? किसान, स्त्री, मजदूर और समाज के हाशिये पर रहे समुदायों के अनुभव उसकी परिभाषा में कितने उपस्थित हैं? यदि प्रभावशाली वर्ग की जीवन-पद्धति को ही पूरे समाज की संस्कृति मान लिया जाए, तो लोकजीवन का एक बड़ा हिस्सा अदृश्य हो सकता है। संस्कृति किसी की निजी जागीर नहीं; उसका निर्माण समाज के विविध समूहों के श्रम, स्मृति, भाषा, लोकज्ञान, परंपरा, संघर्ष, संबंध, सृजनशीलता और बदलते जीवनानुभवों की दीर्घ प्रक्रिया से होता है, जिसमें किसान, स्त्री, मजदूर, वंचित समुदाय और लोकजीवन के असंख्य स्वर समान रूप से सहभागी रहते हैं।

लोक-कंठ में बचा हुआ इतिहास, संस्कार-गीत और स्त्रियों का अनौपचारिक ज्ञान इस सांस्कृतिक पुनर्पाठ के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। जहाँ औपचारिक शिक्षा के अवसर सीमित थे, वहाँ गीत अनुभव और लोकज्ञान की पाठशाला बने। स्त्रियाँ गीतों के माध्यम से संबंधों, पीड़ा, आशा, लोकबुद्धि और सामाजिक दबाव के अनुभव पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाती रहीं। यदि लिखित इतिहास उनके अनुभव दर्ज नहीं कर सका, तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे अनुभव इतिहास से बाहर हो गए। लोक-कंठ का अध्ययन समाज की उस स्मृति से परिचित कराता है, जिसे सत्ता और औपचारिक ज्ञान के अभिलेखों में पर्याप्त स्थान नहीं मिल सका।

अतीत और परंपरा की चर्चा भी इसी विवेक के साथ की गई है। अतीत से सीखना आवश्यक है, किंतु उसकी पूजा करते हुए वर्तमान और भविष्य को उसी साँचे में ढालना वैचारिक गतिहीनता उत्पन्न करता है। परंपरा में जीवनदायी मूल्य हैं, तो रूढ़ि और वर्चस्व के अवशेष भी हो सकते हैं। विवेकपूर्ण दृष्टि दोनों को अलग-अलग पहचानती है। वह उपयोगी विरासत को सहेजती है और अमानवीय मान्यताओं को बदलने का साहस भी रखती है।

आधुनिकता का प्रश्न इस सांस्कृतिक विवेक को वर्तमान तक लाता है। नए बीज, अस्पताल, आधुनिक चिकित्सा, पानी का नल, मोबाइल और कंप्यूटर

आधुनिक साधन हो सकते हैं, किंतु उनका उपयोग करने वाला मन अपने-आप आधुनिक नहीं हो जाता। जन्म के आधार पर ऊँच-नीच मानने वाला, स्त्री को समान अवसर से रोकने वाला और श्रम करने वाले को नीचा समझने वाला व्यक्ति आधुनिक साधनों के बीच भी पुरानी सामंती चेतना को बचाए रख सकता है। विचार की वास्तविक आधुनिकता प्रश्न, प्रमाण, समानता और मानवीय गरिमा को स्वीकार करने से विकसित होती है।

इक्कीसवें से तीसवें विचार-बिंदु समाज में निर्मित दूरियों और वर्चस्व के विभिन्न रूपों को सामने लाते हैं। अंधविश्वास, भूख, सत्ता-समर्थित जीवन-शैली, मनगढ़ंत नैतिकता, क्षेत्रीय भेदभाव, जाति और सामंती मानसिकता अलग-अलग समस्याओं की तरह दिखाई देती हैं, किंतु एक समान प्रवृत्ति उन्हें जोड़ती है। मनुष्य द्वारा निर्मित भेदों को स्वाभाविक मान लेना और प्रभावशाली वर्ग की सुविधाओं को समाज का सामान्य नियम बना देना असमानता को स्थायी करता है। ये विचार-बिंदु उसी प्रक्रिया से पर्दा हटाते हैं।

भूख का प्रश्न यहाँ सामाजिक नैतिकता की वास्तविक कसौटी बनता है। भूखे मनुष्य को उपदेश देना आसान है; उसके भोजन, श्रम और सम्मान के प्रश्न को संबोधित करना कठिन। जब संस्कृति और नैतिकता जीवन की मूल आवश्यकताओं से आँखें मूँद लेती हैं, तब उनका मानवीय अर्थ अधूरा रह जाता है। इसी प्रकार जाति जब श्रमजीवी लोगों को आपस में बाँटती है, तब सामूहिक शक्ति कमजोर होती है और शोषण का आधार मजबूत बनता है। क्षेत्र के नाम पर एक-दूसरे को नीचा दिखाना मिथिला को बाहर से नहीं, अपने भीतर से बाँटना है।

इकतीसवें से चालीसवें विचार-बिंदु समस्या की पहचान से समाधान की प्रक्रिया की ओर बढ़ते हैं। समस्या को स्वीकार करना निदान की पहली शर्त है, किंतु उसके लक्षण गिनाना भर पर्याप्त नहीं। उसके कारण और जड़ तक पहुँचना आवश्यक है। समाधान केवल ऊपर से दिए गए आदेश या किसी एक व्यक्ति के निर्णय से स्थायी नहीं बनता। प्रभावित लोगों की सहभागिता, खुला विमर्श, सामूहिक बुद्धि और व्यवहार की ईमानदारी परिवर्तन को अधिक स्थायी आधार देते हैं।

इसी क्रम में कथन और कर्म की दूरी विशेष रूप से सामने आती है। ऊँची

आवाज में बोलना, अलंकृत कर शब्दों का उपयोग करना या नैतिक भाषण देना ईमानदारी का प्रमाण नहीं है। व्यक्ति का वास्तविक पक्ष उसके व्यवहार में प्रकट होता है। वह कमजोर मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करता है, सामूहिक निर्णय में दूसरों के मत को कितना स्थान देता है और निजी सुविधा के समय अपने घोषित सिद्धांतों पर कितना टिकता है, ये सभी उसके सामाजिक चरित्र की कसौटियाँ हैं। जब विचार केवल शब्दों में आगे बढ़ते रहें और जीवन का व्यवहार उनसे पीछे रह जाए, तब वे परिवर्तन की वास्तविक शक्ति नहीं बन पाते।

व्यक्ति की चेतना परिवर्तन का आरंभ कर सकती है, किंतु सामाजिक परिवर्तन सामूहिकता में विस्तार पाता है। एक व्यक्ति प्रश्न उठा सकता है, पहल कर सकता है या नई राह का संकेत दे सकता है; किंतु व्यवस्थागत बदलाव के लिए व्यापक सहभागिता आवश्यक होती है। समाज के निर्माण में व्यक्तिगत पहल और सामूहिक प्रयास दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हें परस्पर विरोधी मानने से न आत्मबल का पूरा अर्थ खुलता है और न सामाजिक परिवर्तन का।

अंतिम दस विचार-बिंदु गाँव, सामाजिक व्यवस्था, विचारधारा, जमीन, पानी, भाषा, स्वतंत्रता, मातृभूमि और मैथिली के प्रश्नों को एक व्यापक संबंध में जोड़ते हैं। गाँव केवल भौगोलिक इकाई नहीं; संबंधों, श्रम, संघर्ष, स्मृति और साझा जिम्मेदारी से उसका सामाजिक रूप बनता है। इसी प्रकार विचार केवल नाम, झंडे या घोषणाओं से नहीं पहचाना जाता। व्यक्ति का जीवन और कर्म बताते हैं कि वह वास्तव में किन मूल्यों के पक्ष में खड़ा है।

जमीन, पानी और भाषा, ये तीनों समानता की व्यावहारिक कसौटियाँ बनते हैं। ये केवल भावनात्मक प्रतीक नहीं, बल्कि जीवन और अधिकार से जुड़े प्रश्न हैं। मातृभूमि की जयकार करना आसान है; उसके लोगों, भाषा, प्राकृतिक आधार और विविध क्षेत्रों के प्रति न्यायपूर्ण जिम्मेदारी निभाना अधिक कठिन। मिथिला को केवल राजधानी के कार्यालयों या सीमित अभिजात दृष्टि से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए खेत, गाँव, नदी, श्रम, लोकभाषा और साधारण मनुष्य के जीवन के बीच खड़ा होना पड़ता है।

खंड का अंत मैथिली के प्रति आत्मविश्वास के आह्वान से होता है। यह क्रम आरंभिक आत्मबल के प्रश्न को व्यापक भाषिक-सांस्कृतिक अर्थ देता है। जो समाज अपनी भाषा को हीन समझता है, वह अपने अनुभव, ज्ञान और अभिव्यक्ति

की सामर्थ्य को भी कमजोर करता है। मैथिली में समाज, विज्ञान, विचार, संघर्ष और आधुनिक जीवन के जटिल प्रश्नों को व्यक्त करने की सामर्थ्य है। आवश्यकता इस बात की है कि मैथिली का निरंतर उपयोग हो, उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र विस्तृत हो और भाषा के प्रति आत्मविश्वास व्यवहार में भी दिखाई दे।

'समाज के भीतर मनुष्य' की यात्रा प्रश्नधर्मी चेतना से आरंभ होकर भाषिक आत्मविश्वास तक पहुँचती है। बीच की राह में मनुष्य अपने भीतर के द्वंद्व, समाज की संस्कृति, इतिहास की उपेक्षित आवाजों, वर्चस्व की संरचनाओं, समाधान की प्रक्रिया और मातृभूमि के प्रति अपनी जिम्मेदारी से परिचित होता है। यह खंड दिखाता है कि समाज मनुष्य को गढ़ता है, किंतु मनुष्य भी अपने प्रश्न, विवेक, व्यवहार और सामूहिक कर्म से समाज का रूप बदल सकता है।

स्वनिर्माण का पहला आधार इसी बोध में निहित है। स्वयं को समझना समाज से विमुख होना नहीं, बल्कि समाज में अपने स्थान और जिम्मेदारी को पहचानना है। समाज को बदलना भी केवल बाहरी संरचनाओं को बदल देना नहीं, बल्कि अपने भीतर उन मूल्यों को विकसित करना है, जिनसे अधिक न्यायपूर्ण, समान और मानवीय जीवन संभव हो सके। 'समाज के भीतर मनुष्य' इसी भीतर और बाहर की संयुक्त यात्रा का पहला खंड है।

## ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 1

मण्डलजी की प्रश्नधर्मी चेतना

‘पयस्विनी’ के ‘अवतारवाद’ लेख में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “हम सभी इक्कीसवीं शताब्दी की समर्थ चेतना हैं, न कि सोलहवीं शताब्दी की बाल चेतना।” (पृ. 8)

यह पंक्ति ‘पयस्विनी’ के आरंभ में ही मण्डलजी के वैचारिक स्वभाव को स्पष्ट कर देती है। वे पाठक को केवल पढ़ने के लिए नहीं, सोचने के लिए भी प्रेरित करते हैं। उनका गद्य परंपरा के सामने आँखें मूँदकर खड़ा नहीं रहता; वह उसके भीतर के सत्य और भ्रम, दोनों को प्रश्न की कसौटी पर परखता है।

“समर्थ चेतना” और “बाल चेतना” के बीच मण्डलजी जो भेद करते हैं, वह केवल अवतारवाद की बहस तक सीमित नहीं है। यह मनुष्य की बौद्धिक जिम्मेदारी का प्रश्न है। समर्थ चेतना तर्क, अनुभव और अपने समय के प्रश्नों को महत्त्व देती है तथा मनुष्य के विवेक पर भरोसा करती है। बाल चेतना बिना परखे स्वीकार कर लेती है और भय तथा चमत्कार में समाधान खोजती रहती है।

मण्डलजी का आग्रह है कि इक्कीसवीं शताब्दी का समाज प्रश्न करने का साहस रखे। श्रद्धा हो, किंतु विवेक के साथ; परंपरा हो, किंतु परीक्षण के साथ; आस्था हो, किंतु मनुष्य की गरिमा और स्वतंत्र चेतना के विरोध में नहीं। पुराने विश्वासों की आड़ में वर्तमान के प्रश्नों से बचने वाला समाज आगे नहीं बढ़ सकता।

अवतारवाद पर उनके विचार का व्यापक अर्थ उस प्रत्येक मानसिकता का प्रतिरोध है, जो मनुष्य को निर्भर बनाती है। जब लोग अपने जीवन की समस्याओं का समाधान केवल किसी बाहरी शक्ति में खोजने लगते हैं, तब उनका आत्मबल घटता है। मण्डलजी इस निर्भरता को तोड़कर मनुष्य को उसके विवेक, श्रम और सामूहिक चेतना का स्मरण कराते हैं।

इस दृष्टि से ‘पयस्विनी’ केवल विचार की पुस्तक नहीं, चेतना की पुस्तक है। इसमें प्रश्न, प्रतिरोध, लोकचेतना और मनुष्य की गरिमा पर अटूट विश्वास है। यह पाठक से अपने समय को समझने, बुद्धि का उपयोग करने, परंपरा को परखने और जीवन के प्रश्नों से मुँह न मोड़ने का आग्रह करती है।

मण्डलजी का गद्य पुस्तकालय के बंद कमरे से नहीं, लोकजीवन के खुले धरातल से जन्म लेता है। इसलिए उनके प्रश्न अकादमिक जिज्ञासा तक सीमित नहीं रहते; वे समाज, न्याय और आत्मसम्मान के प्रश्न बन जाते हैं। उनका लेखन जीवन की उलझनों को सुलझाने का प्रयास है।

प्रश्नधर्मी चेतना साहित्य की सामाजिक भूमिका को भी स्पष्ट करती है। साहित्य का कार्य केवल भाव जगाना नहीं, विवेक को सक्रिय करना भी है। जो साहित्य प्रश्नों से कतराता है, वह समाज के अँधेरे को देखने से बचता है और उसकी सामाजिक उपयोगिता अधूरी रह जाती है।

इक्कीसवीं शताब्दी की समर्थ चेतना बनने का अर्थ है अपने समय के प्रति सजग रहना, अंधविश्वास, वर्चस्व, अन्याय और निर्भरता को परखना तथा विचार को समाज के हित में कर्म से जोड़ना। प्रश्न करना अस्वीकार का हठ नहीं, सत्य तक पहुँचने की जिम्मेदार प्रक्रिया है।

'पयस्विनी' में मण्डलजी पाठक से निष्क्रिय सहमति नहीं माँगते। वे उसे सोचने, पूछने, परखने और मनुष्य के पक्ष में खड़े होने की प्रेरणा देते हैं। इसी कारण यह पुस्तक केवल एक लेखक के विचारों की प्रस्तुति नहीं, एक व्यापक वैचारिक यात्रा का आरंभ है।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 2

प्रतीक्षा नहीं, आत्मबल

'पयस्विनी' के 'अवतारवाद' लेख में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "मनुष्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक वह यह नहीं समझेगा कि धरती पर मनुष्य सबसे शक्तिशाली है।" (पृ. 15)

यह पंक्ति मण्डलजी की वैचारिक दृष्टि का एक मूल सूत्र है। वे मनुष्य को किसी बाहरी चमत्कार की प्रतीक्षा में खड़े रहने की सलाह नहीं देते; उसे अपनी शक्ति, विवेक, श्रम और नैतिक साहस का स्मरण कराते हैं।

जब समाज अपने संकट, अन्याय और अपमान का समाधान अपने भीतर खोजने के बजाय किसी अवतारी शक्ति, बाहरी उद्धारक अथवा चमत्कार की प्रतीक्षा करने लगता है, तब उसका आत्मबल कमजोर पड़ता है। यहाँ उनका

प्रतिपक्ष केवल कोई धार्मिक अवधारणा नहीं, बल्कि हर वह मानसिकता है जो मनुष्य को निर्भर, भयभीत और हीन बनाती है।

अन्याय कई बार इसी कारण टिका रहता है कि लोग अपनी सामूहिक शक्ति पर विश्वास नहीं करते। वे सोचते हैं कि कोई दूसरा आएगा, कोई बड़ा व्यक्ति समाधान करेगा या व्यवस्था अपने-आप बदल जाएगी। मण्डलजी इस भ्रम को तोड़ते हैं। परिवर्तन का पहला आधार मनुष्य की जाग्रत चेतना, साहस और संगठित शक्ति है।

जो समाज अपने विवेक पर भरोसा करता है, वह प्रश्न करता है। जो अपने श्रम पर भरोसा करता है, वह निर्माण करता है। जो अपने सामूहिक आत्मबल को पहचानता है, वह अन्याय को नियति नहीं मानता; उसका प्रतिरोध करता है, राह बनाता है और अपनी गरिमा की रक्षा करता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मनुष्य की गरिमा प्रतीक्षा में नहीं, जागरण और कर्म में है। उद्धार बाहर से नहीं आता; वह भीतर की चेतना, सामूहिक साहस और सत्य के पक्ष में खड़े होने की शक्ति से जन्म लेता है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 3****

जो जहाँ है, वहीं से अपनी शक्ति जगाए

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जो जहाँ है, वहीं खड़ा होकर अपनी शक्ति को जगाए।" (पृ. 29)

यह पंक्ति मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि का स्पष्ट, व्यावहारिक और कर्ममुखी सूत्र है। वे परिवर्तन को बड़े मंच, पद, संस्था या बाहरी नेतृत्व के भरोसे नहीं छोड़ते। उनके लिए समाज की वास्तविक शक्ति उन सामान्य लोगों में है, जो अपने-अपने स्थान पर सजग होकर खड़े होते हैं और अपने हिस्से की जिम्मेदारी समझते हैं।

कई बार लोग मान लेते हैं कि काम तभी होगा जब कोई बड़ा अवसर मिलेगा, व्यवस्था बदलेगी, कोई नेता आगे आएगा या कोई संस्था जिम्मेदारी लेगी। इस सोच में प्रतीक्षा अधिक है, कर्म कम। मण्डलजी कहते हैं कि जहाँ हैं, वहीं से आरंभ कीजिए। अपनी भाषा, समाज, लोक और समय के प्रश्नों के लिए

अपने स्तर से काम कीजिए।

सामाजिक बदलाव केवल ऊपर से नहीं उतरता; वह भीतर से उठता है। उसकी शुरुआत घर की बोली, अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने, छोटे संवाद और जागे हुए प्रश्न से होती है। एक व्यक्ति अपनी हीनभावना छोड़ता है, तो चेतना की पहली चिंगारी फूटती है। अनेक लोग विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो वही चिंगारी सामाजिक गति में बदलने लगती है।

मण्डलजी का आग्रह है कि निराशा, प्रतीक्षा और शिकायत में समय नष्ट न किया जाए। जो काम हम स्वयं कर सकते हैं, उसे दूसरों पर न छोड़ें। भाषा कमजोर लगती है, तो उसी भाषा में लिखें। साहित्य लोगों से दूर लगता है, तो उसे लोगों तक पहुँचाएँ। अन्याय दिखाई देता है, तो उसे पहचानें और उसके विरुद्ध विचार का साहस जगाएँ।

यहाँ 'पयस्विनी' केवल उपदेश नहीं देती, काम की दिशा भी दिखाती है। शक्ति बाहर से आयात की जाने वाली वस्तु नहीं, भीतर से जगाई जाने वाली सामर्थ्य है। मनुष्य अपनी भाषा, श्रम, अनुभव और विचार पर भरोसा करने लगे, तो हाशिये की आवाज भी केंद्र तक पहुँच सकती है।

पुस्तक से लोगों तक विचार ले जाने का प्रत्येक प्रयास इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। एक पंक्ति, एक टिप्पणी अथवा छोटा-सा संवाद पाठक के भीतर प्रश्न जगा सकता है। प्रश्न से विचार जन्म लेता है और विचार लोगों तक पहुँचता है, तो साहित्य अपना सामाजिक दायित्व पूरा करता है।

'पयस्विनी' हमें समाज की प्रतीक्षा नहीं, समाज में अपना स्थान पहचानने की शिक्षा देती है। जो जहाँ है, वहीं से अपनी शक्ति जगाए। परिवर्तन का पहला कदम हमेशा अपने पास से, अपनी चेतना से और अपने कर्म से उठता है।

## 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 4

उलझे जीवन में विचार की आवाज काँपती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "यह संकीर्ण मानसिकता का खेल है, इसलिए हम स्वयं को अलग समझते हैं। हमारा जीवन स्वतंत्र है और स्वतंत्र रूप से निष्पक्ष विचार करने की हमारी अपनी धारणा है।"

(पृ. 98)

यह पंक्ति मण्डलजी की वैचारिक स्वतंत्रता का महत्त्वपूर्ण संकेत है। संकीर्ण मानसिकता मनुष्य को समाज, निष्पक्ष विचार और व्यापक जिम्मेदारी से काट देती है। जब मन संकीर्ण होता है, तब दृष्टि भी अपनी सुविधा, खेमे, संबंधों और भय तक सीमित हो जाती है।

सार्वजनिक जीवन और सामाजिक माध्यमों पर लोग बहुत कुछ पढ़ते हैं, किंतु बोलने से बचते हैं। यह चुप्पी केवल आलस्य का परिणाम नहीं है। इसके पीछे उलझा हुआ जीवन, संबंधों का दबाव, जातीय-सामाजिक समीकरण, नौकरी और प्रतिष्ठा का भय, निजी सुविधा तथा अलग-थलग पड़ जाने की आशंका भी काम करती है।

मण्डलजी की यह पंक्ति इस चुप्पी की जड़ तक पहुँचने का मार्ग देती है। निष्पक्ष विचार के लिए स्वतंत्र जीवन आवश्यक है। स्वतंत्र जीवन का अर्थ केवल आर्थिक स्वाधीनता नहीं, मानसिक स्वाधीनता भी है। भय, मोह, जातीय आग्रह और सामाजिक दबाव में भीतर से फँसे मनुष्य के लिए निष्पक्ष विचार करना कठिन हो जाता है।

उलझे जीवन में विचार की आवाज इसी कारण काँपती है। लोग सत्य समझते हुए भी उसे कह नहीं पाते, अन्याय देखते हुए भी सार्वजनिक समर्थन या विरोध से बचते हैं। उन्हें भय रहता है कि बोलने से जीवन का कोई बंधन और कस जाएगा।

पाठक की चुप्पी को केवल कायरता कहकर छोड़ देना उचित नहीं। इसका संबंध समाज की संरचना से भी है। जो समाज मनुष्य को खाँचों में बाँधकर रखता है, वह उसकी आवाज को भी सीमित करता है। जो संबंध स्वतंत्रता का आधार बनने के बजाय नियंत्रण का साधन बन जाते हैं, वहाँ विचार की निर्भयता सहज नहीं रह जाती।

मण्डलजी की जीवन-दृष्टि इस संकीर्णता का प्रतिरोध करती है। वे स्वतंत्र जीवन और निष्पक्ष विचार को एक साथ रखते हैं। जो मनुष्य स्वयं को भीतर के भय और संकीर्ण आग्रहों से मुक्त करता है, वही समाज के व्यापक प्रश्नों पर खुलकर विचार कर सकता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि विचार की आवाज को मजबूत करने के

लिए जीवन को भीतर से स्वतंत्र करना आवश्यक है। भय घटेगा तो विचार मुखर होगा, संबंधों का दायरा बढ़ेगा तो दृष्टि खुलेगी और संकीर्णता टूटेगी तो निष्पक्ष विचार जन्म लेगा।

उलझे जीवन में विचार की आवाज काँपती है, किंतु यही अंतिम सत्य नहीं है। मनुष्य अपने जीवन को भय, दबाव और संकीर्णता से मुक्त करने लगे, तो वही काँपती हुई आवाज समाज की निर्भय आवाज बन सकती है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 5**

जो उलझन सुलझाता है, वही निर्भय होकर बोलता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "कहा भी जाता है कि संगठन ही शक्ति है। जिस प्रकार व्यक्ति का संगठन परिवार होता है, उसी प्रकार परिवारों का संगठन समाज है। समाज का दर्पण साहित्य है। जैसा समाज होगा, उसका साहित्य भी वैसा ही शक्तिशाली होगा।" (पृ. 66)

यह पंक्ति मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। वे शक्ति को व्यक्ति की निजी सामर्थ्य तक सीमित नहीं मानते। शक्ति संगठन, संबंध और परिवार से समाज तक विस्तृत सामूहिक जीवन से आती है। व्यक्ति जब समाज और लोकजीवन से जुड़ता है, तब उसके विचार में शक्ति और आवाज में स्थिरता आती है।

बहुत-से लोग समस्या देखते हैं, किंतु कुछ ही उसे सुलझाने के संघर्ष में उतरते हैं। जाति, भय, दूरी, अन्याय, अंधविश्वास, अभाव और अपमान से बनी सामाजिक उलझनों के बीच काम करने वाले व्यक्ति की आवाज जीवन से तपकर और संघर्ष से परखकर निकलती है। जो समस्या के निकट जाने का साहस करता है, वही उसके बारे में बोलने की नैतिक शक्ति अर्जित करता है।

जो समाज की समस्याओं से भागता है, उसकी आवाज भीतर से डगमगाती रहती है। जो लोगों का दुःख सुनता है, संबंध बनाता है और समाधान के प्रयास में सहभागी होता है, उसके भीतर का भय धीरे-धीरे घटता है। सामाजिक कार्य मनुष्य को उपयोगी बनाने के साथ-साथ साहसी भी बनाता है।

मण्डलजी का संकेत स्पष्ट है: संगठन शक्ति है। अकेले मनुष्य की आवाज

दबाई जा सकती है, किंतु संगठित समाज की आवाज दबाना कठिन होता है। परिवार समाज से, समाज विचार से और विचार साहित्य से जुड़ता है, तो व्यापक चेतना निर्मित होती है। वही चेतना सामाजिक साहस का आधार बनती है।

बोलने की शक्ति केवल शब्दों की कला से नहीं आती; वह जीवन की ईमानदारी से बनती है। जिसका जीवन समाज के दुःख-सुख से जुड़ा है, जो लोगों की पीड़ा समझता है और अन्याय के सामने चुप रहना असहज मानता है, वही सार्वजनिक रूप से अपने विचार रखने का नैतिक साहस प्राप्त करता है।

इसीलिए समाज की उलझनों को सुलझाने वाले लोगों की आवाज अलग होती है। उनकी प्रतिक्रिया निजी प्रदर्शन नहीं, सामाजिक जिम्मेदारी का हिस्सा होती है। वे जानते हैं कि अन्याय के समय चुप्पी निष्पक्ष नहीं रहती; कई बार वह अन्याय के पक्ष में चली जाती है।

'पयस्विनी' समाज, साहित्य और विचार की शक्ति को परस्पर जुड़े रूप में देखती है। जैसा समाज होगा, वैसा उसका साहित्य होगा; जैसा जीवन होगा, वैसी उसकी आवाज होगी। समाज संगठित, सजग और साहसी होगा, तो उसका साहित्य भी शक्तिशाली होगा और पाठक निष्क्रिय नहीं रहेगा।

जो उलझन सुलझाता है, वही निर्भय होकर बोलता है; क्योंकि उसकी आवाज केवल कंठ से नहीं, समाज के भीतर से उठती है।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 6

समय बदलता है, नैतिक कसौटी भी परखनी पड़ती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "वर्तमान की मूल आवश्यकता क्या है, इस पर विचार कीजिए।" (पृ. 109)

यह पंक्ति छोटी है, किंतु इसमें समय-बोध का गहरा संकेत निहित है। मण्डलजी अतीत के अनुभवों को नकारते नहीं, किंतु वर्तमान की मूल आवश्यकताओं की ओर देखने का आग्रह करते हैं। समाज का विवेक तभी जीवित रहता है, जब वह बार-बार पूछता है कि वर्तमान समय का वास्तविक प्रश्न क्या है।

समय के साथ जीवन की आवश्यकताएँ, संबंध, साधन और अभाव के

रूप बदलते हैं। इसलिए नैतिक निर्णयों के आधारों को भी फिर से परखना पड़ता है। जिस बात को कल केवल चरित्र-दोष मान लिया जाता था, आज उसे सामाजिक परिस्थितियों, अभाव, असमानता और जीवन के दबाव के संदर्भ में देखने की आवश्यकता हो सकती है।

मान लीजिए, कोई बालक भूखा है और किसी के पेड़ से एक-दो आम तोड़कर खा लेता है। नियम की दृष्टि से उसका व्यवहार उचित नहीं, किंतु केवल इसी आधार पर उसे चोर घोषित कर देना क्या न्याय होगा? क्या उसके पूरे चरित्र को दो आमों के आधार पर मापा जा सकता है? यहाँ वर्तमान की मूल आवश्यकता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

समाज कई बार नियम देखता है, परिस्थिति नहीं; घटना देखता है, उसके पीछे का अभाव नहीं। व्यवहार के पीछे की भूख, असुरक्षा, वंचना, शिक्षा का अभाव, घर का संकट और सामाजिक उपेक्षा अनदेखी कर दी जाए, तो नैतिकता न्याय का साधन न रहकर कठोर निर्णय में बदल जाती है।

नैतिकता आवश्यक है, किंतु जीवन के संदर्भ से कटकर वह मनुष्य को सँभालती नहीं, तोड़ती है। अनुचित व्यवहार को अनुचित ही कहना चाहिए, किंतु किसी एक घटना को पूरे चरित्र का प्रमाण बना देना अन्याय है। सही निर्णय व्यवहार के साथ उसके कारण और परिस्थिति को भी देखता है।

आज भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्मान और सुरक्षा केवल निजी साधनों के प्रश्न नहीं रह गए हैं; ये जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। यदि समाज, परिवार और व्यवस्था मिलकर ये आधार उपलब्ध न कराएँ, तो केवल दंड की भाषा समाज को बेहतर नहीं बना सकती।

'पयस्विनी' समय की मूल आवश्यकता पर विचार करने की शिक्षा देती है। नैतिकता कोई जड़ और अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं; वह जीवन के बीच परखा जाने वाला विवेक है। बदलते समय की आवश्यकताओं को न समझने वाला समाज छोटी गलती पर कठोर और बड़े अन्याय पर मौन हो जाता है।

समय बदलता है, इसलिए नैतिक कसौटी भी परखनी पड़ती है। न्यायपूर्ण समाज नियम के साथ परिस्थिति, गलती के साथ कारण और निर्णय से पहले मनुष्य के जीवन के अभाव को भी देखता है।

## ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 7

अनुचित व्यवहार को समझें, मनुष्य को नष्ट न करें

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “आज के परिवेश में समाज के भीतर दहेज और पढ़ाई-लिखाई का जो रूप है और जिस रूप में वह बनता जा रहा है, उससे समाज में टूटन स्वाभाविक है।” (पृ. 109)

यह पंक्ति वर्तमान समाज के भीतर बढ़ते उन दबावों को पहचानती है, जो परिवार, संबंध और व्यक्ति के जीवन को तोड़ते हैं। दहेज, पढ़ाई-लिखाई का खर्च, प्रतिष्ठा की होड़, रोजी-रोटी, घर, स्वास्थ्य और सामाजिक मर्यादा का बोझ मिलकर जीवन को उलझा देते हैं। इस उलझन में व्यवहार बिगड़ता है, निर्णय चूकते हैं और मनुष्य आरोपों का निशाना बनता है।

अनुचित व्यवहार अनुचित ही है, यह स्वीकार करना चाहिए। किंतु हर अनुचित व्यवहार को एक ही तराजू पर नहीं तौला जा सकता। कोई अभाव के कारण चूकता है, कोई लोभ के कारण; कोई असहायता में सीमा लाँघता है, तो कोई सत्ता और धन के मद में। दोनों के चरित्र पर एक जैसा निर्णय देना न्याय नहीं है।

दहेज के बोझ से कर्ज में डूबे परिवार, पढ़ाई के बढ़ते खर्च से टूटते अभिभावक और प्रतिष्ठा के दबाव में अनुचित निर्णय लेने वाले व्यक्ति को केवल दोषी कह देने से समस्या समाप्त नहीं होती। व्यवहार की समीक्षा आवश्यक है, किंतु उसे जन्म देने वाले सामाजिक दबावों की समीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है।

मण्डलजी हमें सावधान करते हैं कि समाज की टूटन केवल व्यक्ति के दोषों से नहीं होती। आर्थिक असमानता, दहेज का दबाव, शिक्षा का खर्च, प्रतिष्ठा की होड़ और जीवन-साधनों तक असमान पहुँच भी इसके कारण हैं। यदि समाज की संरचना मनुष्य को दबा रही हो, तो व्यक्ति के व्यवहार की समीक्षा समाज की समीक्षा के बिना अधूरी रहेगी।

नैतिक समाज प्रत्येक गलती पर मनुष्य को नष्ट नहीं करता। वह गलती को पहचानता है, उसके कारण को समझता है, सुधार का रास्ता खोलता है और अन्याय के स्रोत तक पहुँचता है। दंड से पहले समझ, आरोप से पहले कारण और निर्णय से पहले परिस्थिति को देखना आवश्यक है।

इसका अर्थ नैतिकता से पीछे हटना नहीं है। सही नैतिकता निष्पक्ष विचार की माँग करती है। अनुचित व्यवहार को अनुचित कहें, किंतु मनुष्य को किसी एक घटना में सीमित न कर दें। छोटी-सी चूक पर जीवन भर का दाग लगा देना और बड़े सामाजिक अन्याय को अनदेखा करना समाज की नैतिक कमजोरी है।

'पयस्विनी' समाज की टूटन की जड़ देखने की शिक्षा देती है। दहेज, शिक्षा, भूख, घर, स्वास्थ्य, असमानता और प्रतिष्ठा के दबाव को समझे बिना हम दोषी तो खोज सकते हैं, समाधान नहीं। सुधार का आरंभ मनुष्य और परिस्थिति, दोनों को समग्र रूप में देखने से होता है।

अनुचित व्यवहार को समझें, मनुष्य को नष्ट न करें। समाज का उद्देश्य केवल दोष पहचानना नहीं, बल्कि मनुष्य और समाज दोनों को बेहतर बनाना होना चाहिए।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 8**

मन के भीतर सुविधा और दायित्व का संघर्ष व्यक्ति का वास्तविक परिचय देता है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जीवन-वृत्ति के अंतर्गत ही अपने जीवन और सामाजिक जीवन, दोनों का भरण-पोषण होगा। एक आर्थिक वृत्ति है और दूसरी बौद्धिक।" (पृ. 100)

यह पंक्ति जीवन के दो अनिवार्य पक्षों को सामने लाती है। आर्थिक वृत्ति से व्यक्ति और परिवार का भरण-पोषण होता है। बौद्धिक-सामाजिक कर्म उसकी चेतना, सृजन और समाज के प्रति दायित्व को दिशा देता है। अर्थोपार्जन जीवन का आधार है; बौद्धिक कर्म उसके अर्थ और उद्देश्य को व्यापक बनाता है।

मनुष्य शरीर की आवश्यकताओं से मुक्त नहीं है, किंतु उसका समग्र अस्तित्व धन, पद और सुविधाओं में समाप्त भी नहीं होता। यहीं सुविधा और दायित्व का द्वंद्व जन्म लेता है। सुविधा तात्कालिक लाभ दिखाती है; दायित्व परिवार, समाज और भविष्य पर पड़ने वाले प्रभाव को भी दृष्टि में रखने की दृष्टि देती है।

जीवन के कठिन चयन प्रायः अच्छे और बुरे की स्पष्ट सीमा पर नहीं होते। वास्तविक संघर्ष तात्कालिक लाभ और दीर्घकालिक न्याय, अपने आराम और

सबके हित, चुप रहने की सुविधा और सत्य कहने के जोखिम के बीच होता है। व्यक्ति के चयन से उसकी मूल्य-दृष्टि प्रकट होती है।

दायित्व का अर्थ अपनी आवश्यकताओं को दबाना नहीं, बल्कि निर्णय में परिवार, समाज, भाषा, श्रम और भविष्य के हित को स्थान देना है। सुविधा का उपयोग भी अपने-आप में अनुचित नहीं है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब सुविधा जीवन के साधन के बजाय उसका एकमात्र उद्देश्य बन जाती है।

मण्डलजी आर्थिक वृत्ति और बौद्धिक कर्म को परस्पर विरोधी नहीं मानते। वे अर्थोपार्जन और सृजन, दोनों के लिए निश्चित समय देने की बात करते हैं। उनकी जीवन-दृष्टि में जीविका की जिम्मेदारी और सृजनात्मक कर्म एक ही जीवन के दो आवश्यक पक्ष हैं।

साहित्यकार के भीतर यह द्वंद्व और भी सूक्ष्म होता है। सुविधा सुरक्षित विषयों, परिचित प्रशंसा और कठिन प्रश्नों से दूरी का रास्ता दिखाती है। दायित्व सार्वजनिक मंच से दूर पड़ी आवाजों को शब्द देने की माँग करता है। सुविधा स्वीकृति चाहती है; दायित्व सत्य के पक्ष में खड़े होने का साहस माँगता है।

व्यक्ति का परिचय उसके कथनों से कम, समय, श्रम, ज्ञान और अवसर के उपयोग से अधिक होता है। वह इन सबका उपयोग किसके हित में करता है? अपनी सुविधाओं का कुछ अंश समाज के हित में लगाता है या सब कुछ निजी उपलब्धियों में समेट लेता है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर उसके जीवन-मूल्यों को निर्धारित करते हैं।

संतुलन का अर्थ जीवन की सभी माँगों को बराबर हिस्सों में बाँटना नहीं, बल्कि परिस्थिति और आवश्यकता के अनुरूप प्राथमिकताएँ निर्धारित करना है। सुविधा जीवन को सहज बनाती है, दायित्व उसे उद्देश्य देता है। सुविधा को सर्वोपरि मान लेने से उपलब्धि बाहरी रूप में बड़ी हो सकती है, किंतु भीतर से अर्थहीन रह सकती है। इसी प्रकार दायित्व के नाम पर शरीर, मन और परिवार की उपेक्षा जीवन को बोझ बना सकती है। उचित संतुलन वहाँ है, जहाँ सुविधा दायित्व से विमुख न करे और दायित्व जीवन की सहजता को समाप्त न करे।

व्यक्ति का वास्तविक परिचय उसे मिली सुविधाओं से नहीं, बल्कि सुविधा और दायित्व के बीच किए गए चयन से बनता है। निर्णायक क्षण में वह अपने तक सीमित रहता है या अपनी चेतना को समाज तक विस्तृत करता है,

यही उसके चरित्र का प्रमाण बनता है।

**‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 9**

द्वंद्व से भागी चेतना अपनी दिशा खो देती है, द्वंद्व को समझना विकास का पहला कदम है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “शास्त्रों में आरंभ से ही विचारों का विवाद रहा है। कोई अद्वैत मानता है तो कोई द्वैत।” (पृ. 97)

यह पंक्ति विचार के इतिहास के एक मूल सत्य को उजागर करती है। मनुष्य की चेतना प्रश्न, मतांतर और पुनर्विचार के बीच विकसित हुई है। शास्त्रों में अद्वैत-द्वैत का विवाद हो या समाज में परंपरा और परिवर्तन का टकराव, प्रत्येक गंभीर द्वंद्व संकेत देता है कि उपलब्ध उत्तर जीवन के सभी अनुभवों को समेट नहीं पा रहे हैं।

द्वंद्व को झगड़े, कोलाहल या निजी विरोध तक सीमित कर देना उसके अर्थ को छोटा करना होगा। झगड़े का उद्देश्य प्रायः दूसरे को पराजित करना होता है, किंतु रचनात्मक द्वंद्व सत्य को अधिक स्पष्ट रूप में देखने की प्रक्रिया है। एक ही सत्य के दो बोध, एक ही जीवन की दो माँगें अथवा कथन और कर्म के बीच की दूरी से द्वंद्व जन्म लेता है।

जहाँ समाज प्रश्नों से डरता है, वहाँ बाहरी सहमति जल्दी बन जाती है। किंतु दबाव से बनी सहमति शांति नहीं, दबे हुए विरोध का रूप होती है। विचार की जीवंतता के लिए मतभेद का स्थान, प्रश्न पूछने की स्वतंत्रता और अपनी मान्यताओं को फिर से परखने का साहस आवश्यक है।

मतभेद तब रचनात्मक बनता है, जब व्यक्ति अपने मत को अंतिम सत्य न माने, दूसरे के तर्क को ध्यान से सुने और प्रमाण मिलने पर अपनी धारणा बदलने का साहस रखे। ऐसा द्वंद्व व्यक्ति को पराजित करने की नहीं, सत्य को स्पष्ट करने की प्रक्रिया बन जाता है। संवाद की गरिमा यहीं से जन्म लेती है।

हर द्वंद्व विकास का कारण नहीं होता। यदि मूल प्रश्न पीछे छूट जाए और निजी प्रतिष्ठा, कुंठा तथा अहंकार सामने आ जाएँ, तो मतभेद वैमनस्य में बदलने लगता है। व्यक्ति तर्क का उत्तर तर्क से देने के बजाय दूसरे का अपमान करने लगता है और द्वंद्व अपनी रचनात्मक शक्ति खो देता है।

साहित्य के भीतर परंपरा और प्रयोग, सौंदर्य और सत्य, व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक दायित्व के बीच निरंतर द्वंद्व चलता रहता है। लेखक यदि इन प्रश्नों से भागता है, तो उसका लेखन सुविधाजनक घोषणाओं में सिमट सकता है और जीवन की गहराई तक नहीं पहुँच पाएगा। गंभीर साहित्य उस तनाव को शब्द देता है, जिसे समाज अनुभव तो करता है, पर स्पष्ट रूप से कह नहीं पाता।

व्यक्ति के भीतर का द्वंद्व और भी कठिन होता है। हम जो मानते हैं, क्या उसे व्यवहार में भी जी रहे हैं? जिस न्याय की बात करते हैं, क्या अपने संबंधों में भी उसे स्थान देते हैं? सफलता, सुविधा या प्रशंसा के कारण मूल दायित्व से कहीं दूर तो नहीं होते जा रहे? ये प्रश्न असुविधाजनक हैं, किंतु आत्मविकास का मार्ग इन्हीं से खुलता है।

द्वंद्व को स्वीकार करना उत्तरहीनता नहीं, समुचित उत्तर की खोज का प्रामाणिक आरंभ है। विकास का पहला कदम समाधान की घोषणा नहीं, प्रश्न के वास्तविक रूप को स्वीकार करना है। जिस चेतना में यह साहस है, उसी में परिवर्तन की संभावना जीवित रहती है।

## ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 10

अहंकार द्वंद्व पर परदा डालता है, आत्मपरीक्षण समाधान का मार्ग स्पष्ट करता है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “समाज के जिस जीवन को विषय-वस्तु बनाता हूँ, उस जीवन की वास्तविक धरती पकड़ने का प्रयास करता हूँ। समस्याएँ देखी, भोगी और अनुभव की हैं। इसलिए रचना में केवल उनका बाहरी रूप नहीं, उनके भीतर की पीड़ा, संघर्ष और सामाजिक कारणों को छूने का प्रयास करता हूँ। मेरी रचना पाठक के हृदय तक कितनी पहुँचती है, इसका निर्णय पाठक ही करेंगे। अपनी ओर से इससे अधिक और क्या कह सकता हूँ।” (पृ. 100)

मण्डलजी अपनी सफलता की घोषणा नहीं करते, बल्कि अपनी रचना-प्रक्रिया का आधार स्पष्ट करते हैं। समाज की वास्तविक धरती को पकड़ना और देखी-भोगी समस्याओं को शब्द देना उनका सृजनात्मक दायित्व है। रचना पाठक

के हृदय तक कितनी पहुँचती है, इसका निर्णय वे पाठक पर छोड़ देते हैं।

यह दृष्टि अपने श्रम पर अविश्वास नहीं, आत्ममूल्यांकन की मर्यादा है। रचनाकार अपने उद्देश्य, तैयारी और श्रम को जानता है, किंतु वह अपनी रचना के प्रभाव का एकमात्र निर्णायक नहीं हो सकता। उसका दायित्व निष्ठा से लिखना है; पाठक को अपने अनुभव के आधार पर रचना को स्वीकार करने, अस्वीकार करने अथवा उसकी सीमाएँ पहचानने का अधिकार है।

रचनाकार का वास्तविक द्वंद्व यहीं जन्म लेता है। अपने श्रम पर विश्वास आवश्यक है, किंतु यही विश्वास जब अपने ही निर्णय को अंतिम मानने लगे, तब वह अहंकार बन जाता है। अहंकार कहता है कि मैंने लिखा है, इसलिए रचना श्रेष्ठ है। आत्मपरीक्षण कहता है कि उद्देश्य स्पष्ट हो सका या नहीं और जिस जीवन को लिखा गया, उसका सत्य समुचित रूप से व्यक्त हो पाया या नहीं।

अहंकार का आरंभ हमेशा ऊँची आवाज या खुले दंभ से नहीं होता। कई बार वह अपनी चूक से बचने का तर्क बनकर सामने आता है। आलोचना सुनते ही व्यक्ति प्रश्न को आक्रमण, असहमति को ईर्ष्या और असफलता का कारण दूसरों में देखने लगता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपने भीतर के वास्तविक द्वंद्व से आँखें मूँद लेता है।

आत्मपरीक्षण आत्मनिंदा नहीं है। इसका अर्थ अपना मूल्य घटाना अथवा प्रत्येक उपलब्धि को नकारना भी नहीं है। इसका अर्थ अपने काम को उसी कसौटी पर परखना है, जिस पर हम दूसरों के काम को परखते हैं; अपनी सामर्थ्य के साथ अपनी सीमाएँ और सफलता के साथ अपनी चूक स्वीकार करने का नैतिक साहस रखना है।

आत्मसम्मान और अहंकार का अंतर यहीं स्पष्ट होता है। आत्मसम्मान अपनी गरिमा की रक्षा करता है और दूसरे की गरिमा को भी स्वीकार करता है। अहंकार स्वयं को बड़ा सिद्ध करने के लिए दूसरे को हीन मानता है। आत्मसम्मान संवाद की सामर्थ्य देता है; अहंकार प्रत्येक सुधार को अपमान मान लेता है।

मण्डलजी देखी-भोगी समस्याओं को रचना का आधार बनाते हैं, किंतु उसके प्रभाव का निर्णय अपने हाथ में नहीं रखते। यह विनम्रता निष्क्रियता नहीं, बल्कि सृजन के दायित्व और पाठकीय निर्णय की मर्यादा का बोध है। स्वयं घोषित सफलता क्षणिक शोर उत्पन्न कर सकती है; पाठक के अनुभव से अर्जित

स्वीकृति स्थायी विश्वास बनाती है।

आत्मपरीक्षण कुछ कठिन प्रश्न पूछता है। हम जो करना चाहते थे, क्या वह हो सका? हमारे काम से किसका हित हुआ और किसे पीड़ा पहुँची? आलोचना में कितना सत्य है? अपनी चूक में हमारी तैयारी, दृष्टि या व्यवहार की कितनी भूमिका है? ये प्रश्न असहज कर सकते हैं, किंतु परिवर्तन का आरंभ यहीं से होता है।

जब तक व्यक्ति स्वयं को निर्दोष और पूर्ण मानता रहेगा, तब तक प्रत्येक द्वंद्व का कारण दूसरों में खोजता रहेगा। अपनी सीमा स्वीकार करते ही सीखने का मार्ग खुलता है। सीमा स्वीकार करना अपना मूल्य घटाना नहीं, विकास की जगह पहचानना है; चूक स्वीकार करना पराजय नहीं, पुनर्निर्माण का आरंभ है।

द्वंद्व प्रश्न जगाता है, आत्मपरीक्षण उसका सामना करने का साहस देता है और दायित्व उचित चयन की ओर ले जाता है। अहंकार अपने निर्णय को अंतिम मानकर मार्ग को अस्पष्ट करता है। रचनाकार की गरिमा अपनी श्रेष्ठता घोषित करने में नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविक धरती को रचना में उतारकर उसका निर्णय पाठक पर छोड़ने में है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 11**

आदिम साझेदारी से कृषि-संस्कृति तक

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हमारा मिथिलांचल सदैव से कृषि-प्रधान रहा है। वैसे, इतिहास के पन्नों में कृषि-युग से पहले शिकारी युग और जंगली अवस्था की भी चर्चा है।... हम उसी कृषि-संस्कृति को अपनी संस्कृति मानते हैं, जो कल्याणकारी होने के साथ-साथ प्रेम और भाईचारे को मजबूत बनाने में भी सहायक है।" (पृ. 65)

यह पंक्ति मण्डलजी के संस्कृति-बोध के मूल आधार को सामने लाती है। वे संस्कृति को केवल पर्व-त्योहार, संस्कार, गीत या बाहरी आचार-विचार तक सीमित नहीं रखते। उनके लिए संस्कृति मनुष्य की जीवन-पद्धति, श्रम-संबंधों और समाज के भीतर प्रेम, सहयोग तथा भाईचारे का जीवित आधार है।

मनुष्य का आरंभिक जीवन प्रकृति के बीच सामूहिक संघर्ष का जीवन था। शिकारी युग हो या जंगली अवस्था, मनुष्य अकेले नहीं, समूह में जीता था।

आहार की खोज, विपत्तियों से सुरक्षा और प्रकृति से संघर्ष सबकी साझा जिम्मेदारी थी। इसी सामूहिक जीवन के भीतर परस्पर निर्भरता, सहयोग और बाँटकर जीने के संस्कार विकसित हुए।

मिथिला की कृषि-संस्कृति उसी सामूहिक जीवन-बोध के विकसित रूप जैसी दिखाई देती है। खेत केवल एक किसान के अकेले परिश्रम से नहीं बनता। धरती, पानी, ऋतु, परिवार का श्रम, खेतिहर मजदूर, पशुधन, पड़ोसी, लोकज्ञान और परंपरागत सहयोग मिलकर कृषि-जीवन की रचना करते हैं। बुआई से कटाई और अन्न के भंडारण तक प्रत्येक कार्य एक-दूसरे के श्रम और सहयोग से जुड़ा रहता है। इस अर्थ में कृषि केवल अन्न का उत्पादन नहीं करती, सामाजिक संबंधों का निर्माण भी करती है।

मण्डलजी इसी कारण कृषि-संस्कृति को अपनी संस्कृति मानते हैं। इसमें श्रम, धैर्य, प्रतीक्षा, विश्वास और बाँटकर जीने के संस्कार हैं। यह मनुष्य को केवल अपने हित तक सीमित नहीं रखती, बल्कि उसे परिवार, पड़ोस और समुदाय के सुख-दुःख से जोड़ती है। कृषि-संस्कृति का कल्याणकारी स्वरूप प्रेम और भाईचारे की इसी भावना से बनता है।

किंतु कृषि-संस्कृति का नाम तभी सार्थक है, जब खेत में श्रम करने वाले लोगों को सम्मान और उचित स्थान मिले। जब श्रम को पीछे धकेल दिया जाता है और श्रम के फल पर अधिकार रखने वाला वर्ग स्वयं को संस्कृति का केंद्र मानने लगता है, तब संस्कृति जीवन से कटकर प्रतिष्ठा और वर्चस्व का साधन बन जाती है। ऐसी स्थिति में कृषि-संस्कृति केवल नाम भर रह जाती है और उसका सामूहिक प्राण धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है।

मण्डलजी की दृष्टि संस्कृति-बोध को गौरवगान से आगे ले जाती है। संस्कृति मनुष्य को जोड़ती है या उसके बीच दूरी पैदा करती है, उसका वास्तविक मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए। जो संस्कृति श्रम के सम्मान, पारस्परिक सहयोग, प्रेम और सामूहिक कल्याण को बढ़ाती है, वही जीवनदायी संस्कृति है।

आदिम साझेदारी से कृषि-संस्कृति तक मनुष्य की यात्रा यह समझाती है कि समाज का वास्तविक आधार अलगाव नहीं, परस्पर निर्भरता और सहयोग है। संस्कृति अपना वास्तविक अर्थ तभी ग्रहण करती है, जब वह मनुष्य को मनुष्य से दूर नहीं करती, बल्कि निकट लाती है।

## ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 12

प्रकृति प्रदत्त कम, मनुष्य की बनाई समस्याएँ अधिक

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल प्रश्न करते हैं- “समाज में लड़कियों की संख्या का अनुपात दिन-प्रतिदिन कम क्यों हो रहा है? भ्रूणहत्या का रोग इतना कैसे फैल गया है? जो सार्वजनिक संस्थाएँ हैं, वे आज भी उसी ढर्रे पर क्यों चल रही हैं, जिस पर स्वतंत्रता से पहले चलती थीं?” (पृ. 28)

ये प्रश्न केवल सामाजिक टिप्पणियाँ नहीं, समाज के आत्मपरीक्षण के प्रश्न हैं। मण्डलजी यहाँ उन संकटों की ओर ध्यान खींचते हैं, जो प्रकृति से नहीं, मनुष्य के विचार, व्यवहार और व्यवस्था से जन्म लेते हैं। वे पूछते हैं कि सामाजिक विकास के अनेक दावों के बाद भी लड़कियों की संख्या क्यों घट रही है, भ्रूणहत्या क्यों फैल रही है और सार्वजनिक संस्थाएँ अब भी पुराने ढर्रे से मुक्त क्यों नहीं हो सकी हैं?

प्रकृति बाढ़, सूखा, रोग या विपत्ति दे सकती है। किंतु प्रकृति बेटी को बोझ नहीं मानती, जातिगत दूरी नहीं बनाती, श्रम को नीचा नहीं ठहराती और स्त्री को अधिकारों से वंचित नहीं करती। भ्रूणहत्या, दहेज, सामाजिक अपमान, ऊँच-नीच, अंधविश्वास, लोभ, सत्ता का दंभ और संस्थागत भेदभाव मनुष्य द्वारा निर्मित समस्याएँ हैं। ये सब उस मानसिकता और व्यवस्था से जन्म लेते हैं, जो असमानता को स्वाभाविक मानकर स्वीकार करती रही है।

लड़कियों की घटती संख्या केवल जनगणना का आँकड़ा नहीं, समाज के भीतर बेटी के प्रति बनी दृष्टि का परिणाम है। जब बेटी जन्म से पहले ही असुरक्षित हो जाए, तब यह केवल चिकित्सकीय या कानूनी प्रश्न नहीं रह जाता; यह परिवार, समाज और संस्कृति की मानवीयता पर प्रश्न बन जाता है। भ्रूणहत्या उस सोच का चरम रूप है, जहाँ बेटी को जीवन नहीं, भविष्य का बोझ माना जाता है।

सार्वजनिक संस्थाओं का पुराने ढर्रे पर चलना भी इसी संकट से जुड़ा है। स्वतंत्रता के बाद कानून, प्रशासनिक संरचनाएँ और संस्थाओं के नाम अवश्य बदले, किंतु यदि उनके व्यवहार में जाति, लिंग, धन, पहुँच और प्रतिष्ठा का प्रभाव बना रहे, तो परिवर्तन अधूरा रह जाता है। लोकहित की संस्थाएँ यदि समाज के

पुराने भेदभावों को दोहराती रहें, तो वे समस्या दूर करने के बजाय उसे स्थायी बनाती रहेंगी।

मनुष्य द्वारा निर्मित समस्याओं का सबसे कठिन पक्ष यह है कि उन्हें बहुत दिनों तक परंपरा, संस्कार, मर्यादा या सामाजिक व्यवस्था कहकर स्वीकार किया जाता रहा है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी दोहराया गया अनुचित व्यवहार धीरे-धीरे सामान्य प्रतीत होने लगता है। मण्डलजी के प्रश्न इसी सामान्यता को तोड़ते हैं और समाज को यह समझाते हैं कि केवल पुराना होने से कोई व्यवहार उचित नहीं हो जाता।

साहित्य का दायित्व इन मानव-निर्मित संकटों को पहचानना, उनके कारणों को खोलना और समाज की चेतना को झकझोरना है। साहित्य केवल घटना या आँकड़ा दर्ज नहीं करता; वह घटना के पीछे सक्रिय मानसिकता, सामाजिक संबंध और संस्थागत व्यवहार को भी सामने लाता है। यदि समस्या मनुष्य की बनाई हुई है, तो उसका समाधान भी मनुष्य ही खोज सकता है। इसके लिए परिवार की दृष्टि, शिक्षा की दिशा, संस्थाओं के व्यवहार और सामाजिक मूल्यों, सभी में परिवर्तन आवश्यक है।

प्रकृति कम, मनुष्य की बनाई समस्याएँ अधिक हैं। किंतु आशा का आधार भी यहीं है। जो दूरी, भेदभाव और जड़ता मनुष्य ने बनाई है, उसे मनुष्य सामूहिक विवेक, न्यायपूर्ण व्यवस्था और बदलते व्यवहार से दूर भी कर सकता है। साहित्य और विचार इसी परिवर्तन की चेतना जगाते हैं।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 13**

लोक-कंठ में जीवित इतिहास को पढ़ें

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "संस्कार-गीतों के संकलन और प्रकाशन से मौखिक परंपरा का साहित्य एकत्र होता है और वह साहित्य अध्ययन-विश्लेषण का आधार प्रस्तुत करता है।" (पृ. 22)

यह पंक्ति मौखिक परंपरा के साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व को सामने लाती है। मण्डलजी संस्कार-गीतों को किसी विशेष अवसर पर गाई जाने वाली रस्म मात्र नहीं मानते। उनके लिए ये लोक की स्मृति, जीवनानुभव और सामाजिक अध्ययन की महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। जब संस्कार-गीतों का संकलन

और प्रकाशन होता है, तब कंठ से कंठ तक चलती आई परंपरा अध्ययन और विश्लेषण के लिए उपलब्ध हो जाती है।

लोकगीत प्रत्यक्ष ऐतिहासिक अभिलेख नहीं हैं। वे तिथि, घटना या शासन-परिवर्तन का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत नहीं करते। किंतु वे सामाजिक इतिहास, लोकमानस, पारिवारिक संबंधों और सामूहिक स्मृति के महत्त्वपूर्ण स्रोत अवश्य हैं। लोकगीतों माध्यम से यह समझा जा सकता है कि उस समय के लोग कैसी परिस्थितियों में जीते थे, संबंधों को किस दृष्टि से देखते थे, किन दबावों को सहते थे और अपने दुःख-सुख को किस भाषा में व्यक्त करते थे।

समाज का इतिहास केवल राजकीय अभिलेखों, युद्धों, वंशावलियों, शास्त्रों और सत्ता-परिवर्तनों से नहीं बनता। इतिहास का एक रूप उन गीतों में भी सुरक्षित रहता है, जो जन्म के अवसर पर आशा जगाते हैं, विवाह में संबंधों की जटिलता खोलते हैं और विदाई में करुण स्वर ग्रहण करते हैं। लोकगीत जीवन के उन पक्षों को बचाए रखते हैं, जो औपचारिक इतिहास में अनेक बार दर्ज नहीं हो पाते।

मौखिक परंपरा लंबे समय तक उपेक्षित रही, क्योंकि वह लिखित या शास्त्रीय भाषा में नहीं थी। उसका एक बड़ा हिस्सा साधारण लोगों के कंठ में सुरक्षित था। किंतु जो लिखा नहीं गया, वह असत्य नहीं हो जाता। लोक की स्मृति में जीवित सामग्री इतिहास से बाहर नहीं, बल्कि इतिहास को समझने का एक भिन्न और आवश्यक स्रोत है।

संकलन का अर्थ केवल गीत के शब्द लिख लेना नहीं है। कोई गीत किस अवसर पर, किस क्षेत्र में और किस समुदाय में गाया जाता है, यह जानकारी भी उसके अर्थ का हिस्सा है। गीत के साथ उसका स्थान, अवसर, गायक या गायिका, सामाजिक प्रसंग और संकलन का समय दर्ज रहने पर अध्ययन की प्रामाणिकता बढ़ती है। प्रसंग से अलग किया गया पाठ गीत के शब्द तो बचा सकता है, किंतु उसके जीवंत अर्थ का एक बड़ा हिस्सा खो सकता है।

एक ही गीत के अलग-अलग क्षेत्र, समुदाय या पीढ़ियों में भिन्न पाठ मिल सकते हैं। ये पाठांतर दोष नहीं, मौखिक परंपरा के जीवंत प्रवाह के प्रमाण हैं। इसलिए संकलन का उद्देश्य किसी एक पाठ को अंतिम घोषित करना नहीं, बल्कि गीत के उपलब्ध रूपों, स्वरों और प्रसंगों को यथासंभव सुरक्षित करना

होना चाहिए।

अध्ययन करते समय भी प्रत्येक गीत में एक ही अर्थ खोज लेना उचित नहीं। कुछ गीत सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकार करते हैं, कुछ उनके भीतर के तनाव को प्रकट करते हैं और कुछ हास्य, संकेत, करुणा या मौन के माध्यम से असहमति व्यक्त करते हैं। गीत के शब्दों के साथ उसके स्वर, अवसर और सामाजिक प्रसंग को पढ़ने पर ही उसका वास्तविक अर्थ खुलता है।

मण्डलजी की दृष्टि में संकलन और प्रकाशन साहित्यिक न्याय का कार्य भी है। इसके माध्यम से वे आवाजें अध्ययन के केंद्र में आती हैं, जिन्हें लिखित साहित्य और औपचारिक इतिहास ने उचित स्थान नहीं दिया। लोकजीवन मनोरंजन या कौतूहल का विषय मात्र नहीं रह जाता, बल्कि ज्ञान और साहित्यिक विवेचन का प्रामाणिक आधार बनता है।

लोक-कंठ में जीवित इतिहास को केवल शब्दों के रूप में नहीं, उसके प्रसंग, स्वर, पाठांतर और सामाजिक अनुभव के साथ पढ़ने की आवश्यकता है। लोकसमाज ने अपनी स्मृति, भाषा और जीवन-सत्य को लंबे समय से इसी मौखिक परंपरा में सहेजकर रखा है। इसे छोड़ देने से हमारा इतिहास और संस्कृति-बोध, दोनों अधूरे रह जाएँगे।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 14**

जहाँ शिक्षा वर्जित थी, वहाँ गीत पाठशाला बने

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "मिथिला में संस्कार-गीत अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम हैं। मैथिल समाज में स्त्रियों के लिए औपचारिक शिक्षा वर्जित थी। केवल स्त्रियों के लिए ही नहीं, माटी से जुड़े लोगों के लिए भी वर्जित थी।" (पृ. 21)

यह पंक्ति संस्कार-गीतों को देखने की सामान्य दृष्टि बदल देती है। प्रायः संस्कार-गीतों को विवाह, जन्म, मुंडन या पर्व के अवसर पर गाए जाने वाले परंपरागत गीत मात्र समझ लिया जाता है। किंतु मण्डलजी उनके भीतर ज्ञान की उस धारा को पहचानते हैं, जो औपचारिक पाठशाला से बाहर बहती रही। जहाँ शिक्षा के द्वार बंद थे, वहाँ लोक-कंठ ज्ञान को सहेजने और आगे पहुँचाने का माध्यम बना।

मैथिल समाज में स्त्रियों और माटी से जुड़े लोगों के लिए औपचारिक शिक्षा कई पीढ़ियों तक सहज उपलब्ध नहीं थी। ज्ञान के संस्थागत साधनों पर समाज के सीमित वर्ग का अधिकार था। फिर भी जीवन की सीख रुकी नहीं। लोग खेत, घर, श्रम, प्रकृति, संबंध और सामूहिक अनुभवों से सीखते रहे। इसी जीवन-विद्यालय का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम संस्कार-गीत बने।

अनौपचारिक शिक्षा की अपनी पद्धति होती है। गीत की लय शब्दों को याद रखना सहज बनाती है। पुनरावृत्ति अनुभव को स्मृति में स्थिर करती है। सामूहिक गायन एक पीढ़ी के ज्ञान को दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है। जब गीत समूह में गाए जाते हैं, तब सुनने वाला केवल श्रोता नहीं रहता; वह शब्द, स्वर और प्रसंग के माध्यम से समाज के संबंधों, संस्कारों और व्यवहार का पाठ भी ग्रहण करता है।

माटी से जुड़े लोगों का ज्ञान किसी औपचारिक प्रमाणपत्र पर निर्भर नहीं था। ऋतु को पहचानना, खेती का समय समझना, पशुधन की देखभाल करना, जल और मिट्टी के स्वभाव को परखना, लोक-उपचार के उपाय जानना और सामूहिक श्रम की मर्यादा समझना जीवन के अभ्यास से अर्जित होता था। कहावतें, लोककथाएँ, श्रम के अनुभव और संस्कार-गीत मिलकर उस व्यापक मौखिक ज्ञान-परंपरा का निर्माण करते थे, जिसे पुस्तकों में पूरा स्थान नहीं मिला।

संस्कार-गीत इस ज्ञान-परंपरा के सामाजिक और भावात्मक पक्ष को सुरक्षित रखते हैं। इनके माध्यम से संबंधों का अर्थ, संस्कारों की विधि, सामुदायिक स्मृति और जीवन के स्वीकार-अस्वीकार अगली पीढ़ियों तक पहुँचते रहे। गीत मनोरंजन मात्र नहीं, स्मृति और अनुभव का सामूहिक पाठ बन गए।

किंतु गीतों का पाठशाला बन जाना औपचारिक शिक्षा से वंचित रखे जाने का औचित्य सिद्ध नहीं करता। लोक-कंठ का ज्ञान यह प्रमाणित करता है कि प्रतिबंधों के बावजूद मनुष्य सीखने के रास्ते खोज लेता है; इसका अर्थ यह नहीं कि विद्यालय, अक्षरज्ञान और संस्थागत शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। लोक-शिक्षा का सम्मान और सबके लिए औपचारिक शिक्षा के समान अवसर, दोनों आवश्यक हैं।

मण्डलजी का कथन शिक्षा के अर्थ को व्यापक बनाता है। शिक्षा केवल

स्कूल-कॉलेज, पुस्तक या प्रमाणपत्र तक सीमित नहीं; वह जीवनानुभव, श्रम, स्मृति और सामूहिक संवाद में भी उपस्थित रहती है। जिन लोगों को पाठशाला से दूर रखा गया, वे अपनी भाषा और कंठ में जीवन के पाठ सहेजते रहे।

जहाँ शिक्षा वर्जित थी, वहाँ गीत पाठशाला बने। इस पाठशाला को पढ़े बिना स्त्रियों और माटी से जुड़े लोगों के ज्ञान-संसार तथा मिथिला के सांस्कृतिक जीवन का समग्र अर्थ समझना संभव नहीं है।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 15

संस्कार-गीत : स्त्री के लोक-अनुभव की पाठशाला

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “मिथिला में संस्कार-गीत अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम हैं। मैथिल समाज में स्त्रियों के लिए औपचारिक शिक्षा वर्जित थी।” (पृ. 21)

यह पंक्ति संस्कार-गीतों को लोकगान या संस्कार की रस्म तक सीमित नहीं रहने देती। मण्डलजी स्त्रियों के कंठ में सुरक्षित उस अनुभव-संसार को पहचानते हैं, जिसे औपचारिक विद्यालय, शास्त्र और लिखित इतिहास ने लंबे समय तक उचित स्थान नहीं दिया। स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार सीमित थे, किंतु उनके अनुभव, बुद्धि और स्मृति गीतों के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचते रहे।

संस्कार-गीतों में स्त्री केवल गायिका नहीं, अनुभव की रचयिता और संरक्षिका भी है। वह गीतों के भीतर घर-परिवार की संरचना, संबंधों की जटिलता, सामाजिक मर्यादाओं और अपने जीवन के सुख-दुःख को स्वर देती है। जन्म के गीतों में जीवन की आशा और आशंका बोलती है। विवाह-गीतों में नए संबंधों के उल्लास के साथ अनजान भविष्य का भय भी उपस्थित रहता है। विदाई में बेटी, माता-पिता, घर और समाज का अंतर्मन एक साथ बोलने लगता है।

जो बात स्त्री अकेले या सीधे नहीं कह सकती थी, वह सामूहिक गीत में व्यक्त हो जाती थी। समूह का स्वर उसके व्यक्तिगत अनुभव को साझा अनुभूति में बदल देता था। एक स्त्री की पीड़ा अनेक स्त्रियों का पहचाना हुआ अनुभव बनती, एक प्रश्न सामूहिक स्मृति में सुरक्षित रहता और एक पीढ़ी की सीख अगली पीढ़ी तक पहुँचती थी। इस प्रकार गीत स्त्री को बोलने की भाषा और

अपने अनुभवों को सहेजने का आधार देते रहे।

संस्कार-गीतों में केवल करुणा नहीं है। उनमें प्रेम, हँसी, व्यंग्य, आशा, आशंका, लोकबुद्धि और संबंधों को बचाए रखने का विवेक भी है। कुछ गीत सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकार करते हैं, कुछ उनके भीतर के दबाव को खोलते हैं और कुछ संकेत, परिहास या करुणा के माध्यम से असहमति व्यक्त करते हैं। इसलिए प्रत्येक गीत को विद्रोह की घोषणा मानना उचित नहीं, किंतु उसके भीतर स्त्री-अनुभव और सामाजिक स्थिति की अनेक परतें अवश्य पढ़ी जा सकती हैं।

ये गीत स्त्री-जीवन के भावात्मक दस्तावेज मात्र नहीं, उसके सामाजिक ज्ञान के स्रोत भी हैं। परिवार के भीतर संबंध कैसे बनते-बिगड़ते हैं, कौन-सा व्यवहार सम्मान देता है, कौन-सी रीति पीड़ा उत्पन्न करती है और कठिन परिस्थितियों में संबंधों को कैसे सँभाला जाए, इन सबका लोकानुभव गीतों में सुरक्षित रहता है। यहाँ ज्ञान शास्त्रीय परिभाषा के रूप में नहीं, जीवित अनुभव के रूप में उपस्थित है।

मण्डलजी की विशेषता यह है कि वे वहाँ भी ज्ञान को पहचानते हैं, जहाँ औपचारिक इतिहास केवल परंपरा या मनोरंजन देखता रहा। उनकी दृष्टि में संस्कार-गीत स्त्रियों की मौखिक बौद्धिक परंपरा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। इनके अध्ययन से स्त्री को केवल करुणा की पात्र न मानकर अपने अनुभवों की व्याख्याकार और सांस्कृतिक स्मृति की संरक्षिका के रूप में समझने का मार्ग खुलता है।

आज के समय में संस्कार-गीतों को न अंधगौरव का विषय बनाना उचित है, न पुरानी रस्म मानकर छोड़ देना। उन्हें उनके सामाजिक प्रसंग के साथ पढ़ना आवश्यक है। तभी समझा जा सकेगा कि कौन-सा स्वर स्वीकार का है, कौन प्रश्न का, कौन पीड़ा का और कौन परिवर्तन की आकांक्षा का।

संस्कार-गीतों में स्त्री का जीवनानुभव बोलता है। इस स्वर को पढ़े बिना मिथिला के पारिवारिक जीवन, सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक इतिहास का समग्र अर्थ समझना संभव नहीं है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 16**

मैथिल संस्कृति किसके जीवन से बनी है?

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल प्रश्न करते हैं- "आज जिसे मैथिल संस्कृति कहा जा रहा है, क्या वह वास्तव में मिथिला की संस्कृति है?" (पृ. 18)

यह प्रश्न मैथिल संस्कृति के गौरव का विरोध नहीं है; यह उस गौरव के आधार की जाँच करने का आग्रह है। मण्डलजी पूछते हैं कि जिसे हम मैथिल संस्कृति कहते हैं, क्या वह सचमुच संपूर्ण मिथिला के विविध जीवनानुभवों से बनी है या समाज के किसी सीमित वर्ग की जीवनशैली को पूरे मिथिला की संस्कृति घोषित कर दिया गया है?

संस्कृति केवल समाज के जीवन-व्यवहार में ही नहीं बनती; उसका लिखित और मान्य रूप भी तैयार किया जाता है। जो वर्ग लिखने, पुस्तकें प्रकाशित करने, नियम निर्धारित करने और सांस्कृतिक संस्थाओं पर प्रभाव रखने की स्थिति में होता है, उसकी जीवनशैली सहज ही सामान्य मानक बनने लगती है। धीरे-धीरे उसकी भाषा, रीति और दृष्टि ही संपूर्ण समाज की संस्कृति कही जाने लगती है। इस प्रक्रिया में बहुत-से लोगों का श्रम, स्मृति, भाषा और अनुभव मुख्य सांस्कृतिक कथा से बाहर छूट जाता है।

मिथिला केवल शास्त्रों, पुस्तकों और सत्ता-केंद्रों में सुरक्षित मिथिला नहीं है। उसकी संस्कृति खेत-खलिहान, गाँव-घर, पोखर, पर्व, लोकगीत, पारिवारिक संबंध और सामूहिक श्रम में भी जीवित है। धरती के स्वभाव को समझने वाला किसान, समाज का आधार बनाने वाला श्रमिक, गीतों में स्मृति सहेजने वाली स्त्री और अपनी बोली-बानी में जीवनानुभव व्यक्त करने वाला साधारण जन मिथिला की संस्कृति के दर्शक नहीं, उसके निर्माता हैं।

मण्डलजी का प्रश्न यहीं तीक्ष्ण हो उठता है। यदि बहुसंख्य लोगों के जीवन, श्रम, भाषा, दुःख-सुख और संघर्ष को संस्कृति की मान्य परिभाषा से बाहर रखा गया है, तो वह परिभाषा संपूर्ण मिथिला का प्रतिनिधित्व कैसे करेगी? समाज के किसी सीमित हिस्से की जीवनशैली संस्कृति का एक रूप हो सकती है, किंतु उसे पूरे समाज की संस्कृति मान लेना शेष अनुभवों को अदृश्य बना देना है।

समग्र संस्कृति के निर्माण का अर्थ एक वर्ग का वर्चस्व हटाकर दूसरे वर्ग

का वर्चस्व स्थापित करना नहीं है। शास्त्रीय और लोक, लिखित और मौखिक, नगर और गाँव तथा समाज के विभिन्न समुदायों से जुड़े अनुभवों को उचित स्थान देना आवश्यक है। विविधताएँ एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं; उनकी न्यायपूर्ण स्वीकृति ही संस्कृति को समग्रता प्रदान करती है।

लोकजीवन को संस्कृति के केंद्र में लाने का अर्थ उसकी प्रत्येक परंपरा को बिना परखे स्वीकार करना भी नहीं है। शास्त्रीय हो या लोक का, प्रत्येक प्रथा और मान्यता को मानवीय गरिमा, समानता और लोकहित के आधार पर परखना आवश्यक है। संस्कृति केवल प्रतिनिधित्व का प्रश्न नहीं, आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया भी है।

यह प्रश्न आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। पाठ्यक्रम, साहित्यिक इतिहास, शोध, प्रकाशन और सांस्कृतिक आयोजनों में किसकी भाषा सुनाई देती है और किसका जीवन अनुपस्थित रहता है, यह देखना आवश्यक है। यदि संस्कृति की बात करते समय समाज का बड़ा हिस्सा बार-बार बाहर छूट जाता है, तो हम समग्र संस्कृति नहीं, उसके सीमित रूप को आगे बढ़ा रहे हैं।

संस्कृति किसी की निजी जागीर नहीं है। वह समाज के विविध जीवन, श्रम, स्मृति और रचनात्मक अनुभवों की सामूहिक संपदा है। मैथिल संस्कृति वास्तव में मिथिला की संस्कृति तभी बनेगी, जब उसके भीतर समाज के प्रत्येक हिस्से का जीवन समान सम्मान के साथ दिखाई और सुनाई देगा।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 17**

अतीत से सीखें, अतीत की पूजा न करें

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "आपको अतीत से सीख लेनी होगी, लेकिन यदि उसी को पूजा-पाठ का विषय बना देंगे और उसी को भविष्य मानकर उसी दिशा में बढ़ते जाएँगे, तो साहित्य अवरुद्ध हो जाएगा।" (पृ. 43)

यह पंक्ति मण्डलजी के इतिहास-बोध और साहित्य-दृष्टि का स्पष्ट सूत्र है। वे अतीत को नकारते नहीं हैं। इतिहास, पुराण, परंपरा और पूर्वजों के अनुभवों का महत्त्व वे भली-भाँति समझते हैं। किंतु उनका मत कहना है कि अतीत से सीखना और अतीत को भविष्य का अपरिवर्तनीय आदर्श मान लेना, दोनों अलग

बातें हैं।

अतीत अनुभवों का भंडार है, भविष्य का तैयार नक्शा नहीं। उसमें समाज की यात्रा, संघर्ष, गलतियाँ, उपलब्धियाँ और स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं। समाज ने जो कुछ भोगा, बनाया, खोया और सीखा, उसे समझने का आवश्यक आधार अतीत देता है। किंतु प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ, प्रश्न और आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। इसलिए अतीत के उत्तरों को ज्यों-का-त्यों वर्तमान पर लागू करने से नई समस्याओं का समाधान नहीं मिलता।

अतीत से सीखने का अर्थ उसके अनुभवों के कारण और परिणाम को समझना है। कौन-सा विचार समाज को आगे ले गया, कौन-सी भूल ने मनुष्य को पीड़ा दी और कौन-सी उपलब्धि आज भी उपयोगी है, इसे परखना आवश्यक है। सीख मनुष्य को विवेक देती है; पूजा प्रश्न करने का अधिकार समाप्त कर देती है। जब अतीत को प्रश्नों से ऊपर रख दिया जाता है, तब उसकी भूलें भी आदर्श दिखाई देने लगती हैं।

मण्डलजी की चिंता विशेष रूप से साहित्य की गति से जुड़ी है। यदि साहित्य पुराने साँचे को ही भविष्य मानकर उसी दिशा में बढ़ता रहेगा, तो वह अपने समय के जीवन से कट जाएगा। उसकी भाषा पुरानी रह सकती है, पात्र वर्तमान में रह सकते हैं, किंतु दृष्टि अतीत के बंद घेरे में कैद रह जाएगी। ऐसा साहित्य स्मृति की पुनरावृत्ति तो कर सकता है, नई जीवन-दृष्टि का निर्माण नहीं।

जीवित साहित्य अपने समय के प्रश्न सुनता है। वह देखता है कि वर्तमान में मनुष्य कहाँ खड़ा है, समाज की पीड़ा क्या है, संबंधों और मूल्य-बोध में कौन-से परिवर्तन आए हैं तथा भविष्य के लिए किस दिशा की आवश्यकता है। वह अतीत के अनुभवों को वर्तमान की कसौटी पर परखता है और उनसे भविष्य की संभावनाएँ खोजता है। इस संवाद में अतीत मार्गदर्शक रहता है, बंधन नहीं बनता।

पुराने गौरव की स्मृति समाज को आत्मविश्वास दे सकती है, किंतु केवल गौरवगान से साहित्य जीवित नहीं रहता। जब स्मृति आत्मपरीक्षण से कट जाती है, तब वह प्रश्नों को रोकती है और परिवर्तन को असम्मान समझने लगती है। अंध-पूजा अतीत को बाहर से सुरक्षित दिखाती है, किंतु उसके जीवित अर्थ को समाप्त कर देती है।

मण्डलजी की दृष्टि में साहित्य की आँखें काल की तीनों दिशाओं में खुली रहनी चाहिए: अतीत से अनुभव ग्रहण करने के लिए, वर्तमान को समझने के लिए और भविष्य का मार्ग बनाने के लिए। जो साहित्य इन तीनों को जोड़ता है, वही समय के साथ चलता है और समय को दिशा भी देता है।

अतीत को मानें, उसके अनुभवों से सीखें और उसकी उपलब्धियों का सम्मान करें। किंतु उसे सिर पर रखकर वर्तमान की आँखें बंद न करें। अतीत से प्राप्त विवेक भविष्य के निर्माण का आधार बने, भविष्य का स्थान न ले।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 18**

परंपरा विवेक माँगती है, अंध-स्वीकार नहीं

मण्डलजी लिखते हैं- "कबीर दास के जीवन का जो इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह विवेकपूर्ण नहीं लगता... आवश्यकता है युगानुकूल साहित्य के निर्माण की।" (पृ. 150)

यह पंक्ति परंपरा को नकारने की नहीं, उसे विवेक के साथ पढ़ने की पुकार है। मण्डलजी कबीर अथवा किसी अन्य संत-कवि के साहित्यिक महत्त्व को कम नहीं करते। उनका प्रश्न यह है कि महापुरुषों के जीवन, विचार और प्रतिष्ठा को हम किस पद्धति से पढ़ते हैं। क्या उपलब्ध कथनों को बिना जाँचे स्वीकार कर लेते हैं, या उनके स्रोत, समय और वैचारिक आधार को भी परखते हैं?

परंपरा समाज की स्मृति है। किंतु लंबे समय से चली आ रही किसी जीवन-कथा में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ जनश्रुति, श्रद्धा और बाद की व्याख्याएँ भी जुड़ सकती हैं। धीरे-धीरे वास्तविक मनुष्य पीछे छूट जाता है और उसकी जगह एक निर्विवाद छवि ले लेती है। नाम सुरक्षित रहता है, किंतु विचार की जटिलता और जीवन-संघर्ष खो सकते हैं।

कबीर का नाम लेना सहज है; उनकी निर्भीक प्रश्नशीलता को स्वीकार करना कठिन। उनके दोहे दोहराना सहज है; जाति, पाखंड और सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध उनकी दृष्टि को जीवन में उतारना कठिन। यदि कबीर को केवल स्मरण, जयकार, माला और मंच तक सीमित कर दिया जाए, तो उनका विचार समाज की सक्रिय चेतना से कट जाता है।

विवेकपूर्ण पुनर्पाठ का अर्थ है कि महापुरुषों के जीवन-वृत्त के स्रोत देखे जाएँ, उनकी मूल रचनाएँ पढ़ी जाएँ, उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों को समझा जाए और बाद में जुड़ी व्याख्याओं तथा जनश्रुतियों को प्रमाण के आधार पर परखा जाए। श्रद्धा अध्ययन की प्रेरणा बन सकती है, किंतु सत्यापन का स्थान नहीं ले सकती।

परंपरा को प्रश्न की कसौटी पर रखना उसका अपमान नहीं है। प्रश्न परंपरा के जीवित अर्थ को खोलता है। जो परंपरा नए प्रमाण, भिन्न व्याख्याओं और बदलते समय के प्रश्नों से संवाद करती है, उसकी वैचारिक शक्ति बनी रहती है। जो परंपरा केवल अंध-स्वीकार की माँग करती है, वह धीरे-धीरे जीवित विचार से रूढ़ विश्वास में बदल जाती है।

मण्डलजी "युगानुकूल साहित्य के निर्माण" पर जोर देते हैं। इसका अर्थ पुराने साहित्य को अस्वीकार करना नहीं, और न ही पुराने विचारों को नए शब्दों में दोहरा देना है। प्रत्येक युग के रचनाकार को अपने समय के जीवन, अन्याय, संबंध, ज्ञान और परिवर्तन के प्रश्नों को समझकर साहित्य रचना पड़ता है। पूर्वजों के विचार दिशा दे सकते हैं, किंतु आज के प्रश्नों के उत्तर आज के रचनात्मक विवेक से ही खोजने होंगे।

आज के संचार-माध्यमों में नाम और उद्धरण बहुत तेजी से फैलते हैं, किंतु उनके प्रसंग, स्रोत और वैचारिक अर्थ उसी गति से पाठक तक नहीं पहुँचते। संदर्भ से काटी गई एक पंक्ति किसी विचार का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसलिए लेखक, आलोचक और पाठक की जिम्मेदारी केवल उद्धरण दोहराने तक सीमित नहीं; उसका स्रोत जाँचना, प्रसंग खोलना और जीवन से उसका संबंध स्पष्ट करना भी आवश्यक है।

परंपरा को न अँधेरे में पूजना उचित है, न आवेश में फेंक देना। उसकी उपलब्धियों, सीमाओं, ऐतिहासिकता और वर्तमान उपयोगिता को विवेक के प्रकाश में पढ़ने की आवश्यकता है। ऐसा पुनर्पाठ परंपरा को कमजोर नहीं करता, बल्कि उसके जीवित अर्थ को फिर से सामने लाता है।

परंपरा विवेक माँगती है, अंध-स्वीकार नहीं। मण्डलजी का आह्वान है कि हम नाम की पूजा तक सीमित न रहें; जीवन-दृष्टि को समझें, स्रोतों को परखें और अपने समय के प्रश्नों के अनुरूप नए साहित्य का निर्माण करें।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 19**

अपनी संस्कृति का निर्माण स्वयं करना होगा

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी संस्कृति का निर्माण स्वयं करना होगा। अपने प्रयास से ही यह संभव होगा।" (पृ. 28)

यह पंक्ति मण्डलजी की संस्कृति-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। वे भाषा, साहित्य और संस्कृति को ऊपर से दी गई तैयार वस्तु नहीं मानते। ये सभी समाज के दैनिक व्यवहार, श्रम, अनुभव, विचार और रचनात्मक प्रयास से निरंतर निर्मित होते हैं। इसलिए इनके निर्माण और संरक्षण की जिम्मेदारी भी समाज को स्वयं उठानी पड़ती है।

"अपने प्रयास से ही यह संभव होगा" का अर्थ केवल व्यक्तिगत प्रयास नहीं, सामूहिक सांस्कृतिक जिम्मेदारी है। कोई एक लेखक, संस्था या वर्ग अकेले भाषा और साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता। रचनाकार, पाठक, शिक्षक, विद्यार्थी, प्रकाशक, कलाकार और साधारण भाषा-भाषी, सबकी सक्रिय सहभागिता से सांस्कृतिक जीवन आगे बढ़ता है।

अपनी भाषा का निर्माण करने का अर्थ उसे केवल घर की बातचीत में बचाए रखना नहीं है। उस भाषा में साहित्य रचा जाए, शिक्षा दी जाए, नया ज्ञान व्यक्त किया जाए और बदलते जीवन के अनुभवों को उपयुक्त शब्द मिलें। यदि भाषा नए विषयों, नई पीढ़ी और नई जीवन-स्थितियों से नहीं जुड़ेगी, तो उसके प्रयोग का क्षेत्र धीरे-धीरे छोटा होता जाएगा। भाषा का विकास उसी समाज के निरंतर प्रयोग से होता है, जो उसे अपने विचार और कार्य का माध्यम बनाता है।

अपने साहित्य का निर्माण करने का अर्थ केवल पुस्तकें लिख देना नहीं है। रचनाओं को पढ़ना, रचनाओं की विवेकपूर्ण समीक्षा करना, नए रचनाकारों को अवसर देना, लोकसाहित्य को सहेजना और समाज के विविध जीवनानुभवों को साहित्यिक अभिव्यक्ति देना भी आवश्यक है। साहित्य तभी समाज का बनता है, जब समाज अपने अनुभव, प्रश्न, संघर्ष और आकांक्षाओं को उसके भीतर पहचान पाता है।

संस्कृति केवल विरासत नहीं, निरंतर निर्माण की प्रक्रिया है। विरासत में

मिली जो बातें मनुष्यों को जोड़ती हैं, जीवन को समृद्ध करती हैं और सामूहिक स्मृति को बचाए रखती हैं, उन्हें सहेजना आवश्यक है। जो प्रथाएँ भेदभाव, अपमान या अन्याय को स्थायी बनाती हैं, उनकी पुनर्परीक्षा भी सांस्कृतिक जिम्मेदारी का हिस्सा है। संरक्षण का अर्थ प्रत्येक पुराने रूप को ज्यों-का-त्यों बचाए रखना नहीं, बल्कि उसके जीवनदायी तत्त्वों को पहचानकर आगे बढ़ाना है।

इस निर्माण के लिए केवल भावनात्मक गौरव पर्याप्त नहीं। भाषा-शिक्षण, प्रकाशन, पुस्तकालय, शोध, लोकसाहित्य का अभिलेखन, सांस्कृतिक आयोजन और नई पीढ़ी की सहभागिता आवश्यक है। संस्था और समाज के व्यवहार में भाषा तथा साहित्य को स्थान मिलेगा, तभी सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता व्यवहार में उतर सकेगी।

अपनी संस्कृति का निर्माण स्वयं करने का अर्थ बाहरी विचारों या प्रभावों के लिए द्वार बंद करना भी नहीं है। जीवित संस्कृति दूसरे समाजों के अनुभवों से सीखती है, किंतु उनका अंधानुकरण नहीं करती। वह नए विचारों को अपने जीवन की आवश्यकता और मानवीय मूल्यों के आधार पर परखती है, ग्रहण करती है और अपने ढंग से रूप देती है। अपनापन कोई सीमाबद्ध दीवार नहीं, सचेत चयन और आत्मविश्वास का आधार है।

मण्डलजी का आग्रह समाज को प्रतीक्षा से बाहर निकालता है। भाषा किसी दूसरे के प्रयास से विकसित नहीं होगी, साहित्य किसी बाहरी स्वीकृति से समाज का नहीं बनेगा और संस्कृति केवल गौरवगान से जीवित नहीं रहेगी। उसे जीना, रचना, पढ़ना, परखना और अगली पीढ़ी तक पहुँचाना होगा।

अपनी संस्कृति का निर्माण स्वयं करना होगा। जो समाज अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति की जिम्मेदारी स्वयं ग्रहण करता है, वही अपने सांस्कृतिक भविष्य की दिशा भी स्वयं निर्धारित करता है।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 20

केवल साधनों के आधुनिक हो जाने से विचार आधुनिक नहीं होते

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “आर्थिक विकास के क्रम में खेती के लिए जब नए, अर्थात् उन्नत किस्म के बीज आए, तो सामंती सोच

के लोगों ने उसका विरोध किया।... इसी प्रकार दरभंगा में अस्पताल खुलने पर भी विरोध हुआ। गाँव-घर में एलोपैथी का विरोध हुआ।... साधारण कुएँ की जगह नल लगने पर भी विरोध हुआ।" (पृ. 77)

मण्डलजी सामाजिक परिवर्तन को केवल सिद्धांत के स्तर पर नहीं देखते। वे खेती, स्वास्थ्य, पानी और साधारण लोगों के दैनिक जीवन में उसके प्रभाव को देखते हैं। उन्नत किस्म के बीज, अस्पताल, एलोपैथिक चिकित्सा और नल उत्पादन, उपचार, स्वच्छता तथा सुविधा बढ़ाने की संभावनाएँ लेकर आए। किंतु सामंती मानसिकता के लोगों ने उनकी उपयोगिता और परिणामों को परखने के बजाय अपरिचित वस्तुओं के भय, परंपरागत धारणाओं तथा शुद्ध-अशुद्ध की मान्यताओं से जोड़कर उनका विरोध करना शुरू किया।

कोई वस्तु नई है, केवल इसी आधार पर उसे उपयोगी या हानिकारक घोषित नहीं किया जा सकता। उन्नत बीज का मूल्यांकन उसकी उपज, लागत, मिट्टी के स्वास्थ्य और दीर्घकालीन प्रभाव के आधार पर होगा। चिकित्सा की उपयोगिता उपचार के प्रभाव, सुरक्षा और परिणामों से निर्धारित होगी। नल का महत्त्व पानी की स्वच्छता, उपलब्धता और जनस्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव से समझा जाएगा। निर्णय का आधार तथ्य और अनुभव हों, भय या अप्रमाणित आशंकाएँ नहीं।

वैज्ञानिक चिंतन का अर्थ आँखें मूँदकर प्रत्येक नई वस्तु को स्वीकार कर लेना भी नहीं है। वह प्रश्न करना, कारण खोजना, प्रमाण देखना, प्रयोग के परिणाम समझना और नई जानकारी के आधार पर अपनी धारणा सुधारना सिखाता है। वैज्ञानिक दृष्टि पुरानी मान्यताओं को केवल पुराना होने के कारण सत्य नहीं मानती और नए प्रयोग को केवल नया होने के कारण श्रेष्ठ नहीं समझती। उसकी कसौटी मनुष्य के जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव और व्यापक लोकहित है।

सामंती मानसिकता का मूल लक्षण केवल नए साधनों का विरोध नहीं, ज्ञान पर पद और प्रतिष्ठा का वर्चस्व भी है। वह किसी विचार की सत्यता देखने से पहले उसे कहने वाले की सामाजिक स्थिति देखती है। बड़े पद पर बैठे व्यक्ति की अप्रमाणित बात सहज ही स्वीकार कर ली जाती है, किंतु किसान, रोगी या श्रमिक के अनुभव की उपेक्षा हो जाती है। फलतः लोकानुभव और नए ज्ञान के

बीच संवाद टूट जाता है। उपयोगी परिवर्तनों को देर से स्वीकार करने की हानि साधारण लोगों को उठानी पड़ती है।

मनुष्य आधुनिक साधनों का उपयोग करते हुए भी विचार से सामंती रह सकता है। मोबाइल, कंप्यूटर, मोटरगाड़ी या आधुनिक भवन अपने-आप चेतना को आधुनिक नहीं बनाते। यदि कोई व्यक्ति जन्म के आधार पर ऊँच-नीच मानता है, स्त्री को समान अधिकार नहीं देता, श्रम करने वाले को छोटा समझता है, असहमत विचार को दबाता है और संस्था को निजी जागीर की तरह चलाता है, तो उसके साधन नए हैं, दृष्टि पुरानी।

नए साधनों का सामाजिक प्रभाव उनकी बनावट, उपलब्धता और प्रयोग की दिशा से निर्धारित होता है। तकनीक ज्ञान की पहुँच बढ़ा सकती है, किंतु भ्रामक सूचना भी फैला सकती है। संस्थागत अधिकार लोकसेवा का माध्यम बन सकता है, किंतु वही अधिकार असहमत आवाजों को दबाने का औजार भी बन सकता है। इसलिए साधनों की नवीनता से अधिक महत्त्व उनके उद्देश्य, समान उपलब्धता और उत्तरदायी उपयोग का है।

मण्डलजी की दृष्टि में समाज की आधुनिकता केवल नई सुविधाओं की उपस्थिति से प्रमाणित नहीं होती। सुविधा और ज्ञान साधारण लोगों तक पहुँचें, उनका लाभ जाति, लिंग और आर्थिक स्थिति के भेद के बिना सबको मिले तथा निर्णय-प्रक्रिया में प्रभावित लोगों के अनुभव सुने जाएँ, तभी परिवर्तन सामाजिक अर्थ ग्रहण करता है।

वैज्ञानिक दृष्टि मनुष्य को विनम्र भी बनाती है। वह स्वीकार करती है कि उसका ज्ञान अपूर्ण हो सकता है, नए प्रमाण पुरानी धारणाओं की पुनर्परीक्षा आवश्यक बना सकते हैं और साधारण लोगों का अनुभव भी ज्ञान का स्रोत हो सकता है। सामंती मानस अपने कथन को अंतिम सत्य मानकर संवाद का द्वार बंद करता है; वैज्ञानिक मानस प्रश्न और सुधार का द्वार खुला रखता है।

परिवर्तन का वास्तविक अर्थ पुराने साधन के स्थान पर नया साधन रख देना मात्र नहीं है। नल लगाना आसान है, किंतु पानी से जुड़ी छुआछूत की धारणा हटाना कठिन। अस्पताल खोलना आसान है, किंतु वैज्ञानिक स्वास्थ्य-चेतना विकसित करना कठिन। विद्यालय बनाना आसान है, किंतु विद्यार्थियों के भीतर प्रश्न करने का साहस जगाना कठिन।

साधनों की आधुनिकता को विचार की आधुनिकता से जोड़ना आवश्यक है। प्रमाण पर आधारित निर्णय, समान मानवीय अधिकार, श्रम का सम्मान और प्रश्न करने की स्वतंत्रता विकसित होगी, तभी आधुनिक साधन समाज की वास्तविक प्रगति के माध्यम बनेंगे।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 21**

दूरी बनाई जाती है, समाज नहीं

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "यदि संपूर्ण संघर्ष चाहिए, तो पूरे समाज को उठकर खड़ा होना पड़ेगा, किंतु यदि प्रबुद्ध समाज अपने संबंधों का विस्तार करना चाहे, तो वह इतना तो कर ही सकता है।" (पृ. 30)

यह पंक्ति मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि का अत्यंत व्यावहारिक और गहरा सूत्र है। वे संपूर्ण परिवर्तन के लिए पूरे समाज के जागरण को आवश्यक मानते हैं। किंतु वे यह भी समझते हैं कि जब तक पूरा समाज एक साथ नहीं उठता, तब तक प्रबुद्ध लोग अपना काम छोड़ दें, यह उचित नहीं। जो लोग सोच सकते हैं, देख सकते हैं और अन्याय तथा दूरी की जड़ों को पहचान सकते हैं, उनकी जिम्मेदारी और अधिक बढ़ जाती है।

समाज में दूरी अपने-आप नहीं बनती। उसे बनाया जाता है। जाति, ऊँच-नीच, शुद्ध-अशुद्ध, कुल-खानदान, धर्म, संस्कार और मर्यादा के नाम पर मनुष्यों के बीच दीवारें खड़ी की जाती हैं। ये दीवारें सबसे पहले संबंध तोड़ती हैं। संबंध टूटते हैं, तो विश्वास टूटता है। विश्वास टूटता है, तो समाज की सामूहिक शक्ति कमजोर पड़ती है।

मण्डलजी यहाँ संघर्ष की कठिनाई भी देखते हैं और संभावना का रास्ता भी खोलते हैं। संपूर्ण संघर्ष के लिए पूरे समाज का उठना आवश्यक है, यह लक्ष्य है। किंतु तब तक जो जाग चुका है, वह क्या करे? मण्डलजी का उत्तर स्पष्ट है- प्रबुद्ध समाज अपने संबंधों का विस्तार करे। अर्थात् अपने घर, जाति, समूह और सुविधा-सुरक्षा के घेरे से बाहर निकलकर समाज के उस हिस्से से जुड़े, जिसे हमेशा किनारे किया गया है।

सामंतवादी और ब्राह्मणवादी सोच की सबसे बड़ी चोट यह है कि वह

मनुष्य को मनुष्य से दूर करती है। वह लोगों को साथ रहना नहीं, अलग-अलग खाँचों में बँटा रहना सिखाती है। किंतु समाज खाँचों से नहीं बनता। समाज साझा पीड़ा, साझा जिम्मेदारी, परस्पर विश्वास और मानवीय संबंधों से बनता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि सामाजिक संघर्ष केवल घोषणाओं से आगे नहीं बढ़ता। उसके लिए संबंधों का विस्तार आवश्यक है। जिन लोगों को एक-दूसरे से दूर किया गया है, उनके बीच संवाद चाहिए। जिन्हें हाशिये पर खड़ा किया गया है, उन्हें समाज के बीच सम्मान के साथ लाने का साहस चाहिए। प्रबुद्ध समाज की भूमिका यहीं से आरंभ होती है। वह केवल विचार नहीं देगा, संबंध बनाएगा। केवल आलोचना नहीं करेगा, दूरी घटाएगा। केवल परिवर्तन की प्रतीक्षा नहीं करेगा, परिवर्तन का सामाजिक आधार तैयार करेगा।

दूरी बनाई जाती है, समाज नहीं। समाज बनाने के लिए मनुष्य को मनुष्य तक पहुँचना पड़ता है। जब संबंध बढ़ेंगे, तभी संघर्ष की शक्ति बढ़ेगी। और जब शक्ति बढ़ेगी, तभी समाज अपने अँधेरे को काट सकेगा।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 22**

अंधविश्वास के अँधेरे में भविष्य नहीं बनता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हम इक्कीसवीं सदी में हैं, इसलिए अंधविश्वास को रोकना होगा।" (पृ. 30)

यह पंक्ति मण्डलजी की तर्कशील चेतना की स्पष्ट घोषणा है। वे मनुष्य को उस मानसिकता से बाहर निकालना चाहते हैं, जो आँखें होते हुए भी उसे अँधेरे में रखती है। अंधविश्वास केवल पूजा-पद्धति अथवा धार्मिक मान्यताओं का प्रश्न नहीं है। यह वह सोच है, जो मनुष्य के विवेक को कमजोर करती है, प्रश्न करने का साहस घटाती है और समाज को पुराने भय तथा रूढ़ मान्यताओं के भीतर कैद कर देती है।

सामंतवादी और ब्राह्मणवादी सोच अंधविश्वास को केवल मान्यता की तरह नहीं, बल्कि व्यवस्था की तरह चलाती रही है। वह लोगों को यह विश्वास दिलाती है कि जो कुछ है, वह पूर्वनिश्चित है। जन्म से श्रेष्ठता तय है, जन्म से हीनता तय है, भाग्य से दुःख तय है और परंपरा से मौन रहना तय है। इस प्रकार अंधविश्वास मनुष्य को अपने जीवन के वास्तविक प्रश्नों से दूर कर देता है।

मण्डलजी का आग्रह यहाँ बिल्कुल स्पष्ट है। इक्कीसवीं सदी में रहते हुए भी यदि समाज प्रश्नों से डरता है, विवेक से कतराता है और अन्याय को परंपरा के नाम पर ढँकता है, तो उसका भविष्य मजबूत नहीं बन सकता। भविष्य उसका बनता है, जो वर्तमान को समझता है, अतीत को परखता है और अंधविश्वास के विरुद्ध सोचने का साहस करता है।

अंधविश्वास की सबसे बड़ी क्षति यह है कि वह मनुष्य की आंतरिक शक्ति को ही कमजोर कर देता है। लोग अपने दुःख के सामाजिक कारण नहीं देखते, उसे भाग्य कहकर स्वीकार कर लेते हैं। शोषण को व्यवस्था नहीं मानते, नियति मान लेते हैं। दूरी को अन्याय नहीं समझते, संस्कार कहकर बचाए रखते हैं। इस प्रकार अंधविश्वास केवल मन में नहीं रहता; वह सामाजिक संबंधों, व्यवहार और संघर्ष की शक्ति तक को प्रभावित करता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि समाज का अँधेरा केवल दीप जलाने से नहीं कटता, विचार जगाने से कटता है। अंधविश्वास को रोकना धर्म अथवा परंपरा का विरोध नहीं, बल्कि मनुष्य के विवेक, सम्मान और भविष्य की रक्षा है। जो समाज प्रश्न करने का साहस करता है, वह अपने अँधेरे को पहचानता है। और जो समाज अपने अँधेरे को पहचानता है, वही उसे दूर करने का रास्ता भी बना सकता है।

अंधविश्वास के अँधेरे में भविष्य नहीं बनता। भविष्य विवेक, तर्क, प्रश्न और मनुष्य के अपने जीवन पर विश्वास से बनता है। मण्डलजी की बात का मूल अर्थ यही है कि इक्कीसवीं सदी के समाज को पुराने भय में नहीं, नई चेतना के साथ आगे बढ़ना होगा।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 23**

भूख का प्रश्न सुलझाए बिना नैतिकता अधूरी रहती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हम आज भी भोजन को ही मूल आवश्यकता मानते हैं।" (पृ. 109)

यह पंक्ति समाज के सबसे बुनियादी प्रश्न को सामने लाती है। भोजन केवल पेट भरने की वस्तु नहीं है। भोजन जीवन का आधार है। जिस समाज में भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा और स्वास्थ्य की न्यूनतम व्यवस्था असुरक्षित है, वहाँ

नैतिकता पर विचार करते समय जीवन के अभावों को देखना आवश्यक है।

भूखे मनुष्य के व्यवहार और तृप्त मनुष्य के व्यवहार को एक ही कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। अभाव में जी रहे मनुष्य की चूक कई बार उसके चरित्र का संपूर्ण सत्य नहीं, बल्कि उसकी कठिन परिस्थितियों का संकेत होती है। जिसे भोजन, शिक्षा, उपचार, घर और सम्मान का आधार नहीं मिला, उसके जीवन के निर्णय केवल दोष और दंड की भाषा में नहीं किए जा सकते।

समाज की एक बड़ी भूल यह है कि वह कई बार भूख का कारण नहीं देखता, भूखे मनुष्य की गलती देखता है। वह व्यवस्था पर प्रश्न नहीं करता, व्यक्ति पर फैसला सुना देता है। वह यह नहीं पूछता कि जो बच्चा, परिवार या मनुष्य न्यूनतम जीवन-साधनों से वंचित है, उसे उस स्थिति तक पहुँचाने में समाज, परिवार और शासन की क्या भूमिका है।

मूल आवश्यकताएँ केवल भाषण के शब्द नहीं हैं। भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा और स्वास्थ्य यदि जीवन के आधार हैं, तो उनकी पूर्ति केवल व्यक्ति के निजी संघर्ष पर नहीं छोड़ी जा सकती। सरकार, समाज और परिवार, तीनों की जिम्मेदारी है। ये आधार कमजोर रहेंगे, तो उनका परिणाम केवल व्यक्ति के अनुचित व्यवहार में नहीं, समाज की विफलता में भी दिखाई देता रहेगा।

मण्डलजी की दृष्टि यहाँ लोकजीवन के पक्ष में खड़ी है। वे समाज की वास्तविक आवश्यकताओं की ओर देखने का आग्रह करते हैं। क्योंकि मूल आवश्यकताओं को समझे बिना नैतिकता उपदेश बन जाती है। पेट खाली हो, शरीर असुरक्षित हो, शिक्षा दूर हो, उपचार असंभव हो, घर टूटा हो और समाज चरित्र का भाषण देता रहे, तो यह नैतिकता नहीं, संवेदनहीनता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि अनुचित व्यवहार उचित हो जाता है। अनुचित व्यवहार अनुचित ही रहता है। किंतु उसके कारण को समझना आवश्यक है। यदि उसका कारण भूख, उपेक्षा, बेरोजगारी, शिक्षा का अभाव या सामाजिक अन्याय है, तो केवल व्यक्ति को दोषी ठहराना आधा सत्य है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि समाज की मूल आवश्यकताओं को पहचानें। भूख, घर, शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रश्नों को हल्का न मानें। यदि जीवन का आधार ही कमजोर है, तो चरित्र का भवन मजबूती से कैसे खड़ा रहेगा?

भूख का प्रश्न सुलझाए बिना नैतिकता अधूरी रहती है। पहले जीवन के

आधार को सुरक्षित किया जाए, तभी समाज की नैतिकता न्यायपूर्ण, मानवीय और स्थायी बन सकेगी।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 24**

जब सत्ता किसी जीवन-शैली को संस्कृति बना देती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "समाज की सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में थी, इसलिए उनकी जीवन-शैली संस्कृति बन गई। बहुसंख्य मूलवासियों पर एक नई संस्कृति आरोपित की गई।" (पृ. 19)

यह पंक्ति संस्कृति के सहज प्रतीत होने वाले अर्थ को अचानक जटिल बना देती है। सामान्यतः संस्कृति का नाम सुनते ही हमारे मन में गीत, पर्व, परंपरा, संस्कार, मर्यादा और गौरव की छवियाँ उभरने लगती हैं। किंतु मण्डलजी इसी छवि के भीतर सत्ता, वर्चस्व और आरोपण का प्रश्न उठाते हैं। वे पूछते हैं कि जिसे हम समाज की संस्कृति कहते हैं, क्या वह सचमुच पूरे समाज के जीवन से बनी है या किसी सत्ता-संपन्न वर्ग की जीवन-शैली को समस्त समाज की संस्कृति घोषित कर दिया गया है?

इस उद्धरण को पढ़ते हुए एक बात स्पष्ट रखना आवश्यक है: यहाँ आलोचना का लक्ष्य किसी जाति का प्रत्येक व्यक्ति नहीं, बल्कि वह ब्राह्मण-केंद्रित ऐतिहासिक सत्ता-संरचना है, जिसने एक सीमित वर्ग की जीवन-पद्धति को पूरे समाज का सार्वभौम सांस्कृतिक मानक बना दिया। प्रश्न जन्म का नहीं, उस व्यवस्था का है, जिसमें संस्कृति निर्धारित करने का अधिकार सीमित हाथों में केंद्रित रहा।

संस्कृति फूल-पत्तियों, गीत-संगीत और उत्सवों की सजावट मात्र नहीं है। संस्कृति के विमर्श में यह भी देखना आवश्यक है कि समाज में कौन बोल सकता था, कौन लिख सकता था, कौन नियम बना सकता था, कौन संस्कारों का अर्थ निर्धारित करता था और किसका जीवन उन नियमों का भार ढोता रहा। जब लिखने, व्याख्या करने और मर्यादा निर्धारित करने का अधिकार किसी सीमित वर्ग के हाथ में रहता है, तब वह वर्ग सहज ही अपनी जीवन-पद्धति को समाज का आदर्श मानक बना देता है।

धीरे-धीरे उसका भोजन, भाषा, पूजा-पद्धति, रीति, मर्यादा और जीवन-

दृष्टि शुद्ध, श्रेष्ठ और संस्कारित कही जाने लगती है। इसके विपरीत दूसरे समुदायों की जीवन-पद्धतियों को लोकरीति, पिछड़ी परंपरा, अशास्त्रीय व्यवहार या निम्न संस्कृति कहकर किनारे कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में उनका जीवन समाप्त नहीं होता, किंतु उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा छीन ली जाती है।

मण्डलजी 'मूलवासी' शब्द के माध्यम से उन बहुसंख्य लोगों की ओर संकेत करते हैं, जिनके श्रम से समाज का दैनिक जीवन चलता रहा। खेतों में अन्न उपजाना, लोकगीत और लोककथाएँ सहेजना तथा विपत्ति के समय सामूहिक जीवन को बचाए रखना उनके जीवन का हिस्सा था। फिर भी उनकी रीति, भाषा, स्मृति और जीवन-ज्ञान को संस्कृति के मान्य मुख्य रूप में उचित स्थान नहीं मिला। समाज उनके श्रम पर निर्भर रहा, किंतु उनके अनुभव को अपने सांस्कृतिक परिचय का समान भाग नहीं माना।

आरोपित संस्कृति का अर्थ केवल बाहर से आई कोई नई रीति नहीं है। आरोपण तब होता है, जब एक जीवन-पद्धति को श्रेष्ठ मानक बनाकर दूसरी जीवन-पद्धतियों पर थोपा जाता है। लोग अपनी रीति निभाते रहते हैं, किंतु उन्हें अपनी ही परंपरा के प्रति हीनता का अनुभव कराया जाता है। उनकी भाषा बनी रहती है, किंतु उसे अशुद्ध कहा जाता है। उनका ज्ञान समाज के काम आता है, किंतु उसे ज्ञान की मान्यता नहीं दी जाती।

यह प्रश्न आज भी उतना ही आवश्यक है। आज जब हम संस्कृति की बात करते हैं, तब किसका चेहरा देखते हैं? केवल पंडित, मंच, शास्त्र, उत्सव और संपन्न घरों का जीवन? या वे लोग भी दिखाई देते हैं, जो पर्वों की तैयारी में श्रम करते हैं, खेतों में अन्न उपजाते हैं, नदी और बाढ़ से जूझते हैं, संस्कार-गीत गाते हैं, लोकस्मृति को सहेजते हैं और समाज का वास्तविक भार उठाते हैं?

जो संस्कृति सत्ता के एकाधिकार में परिभाषित होती है, वह कई बार स्वयं को शुद्ध और दूसरी जीवन-पद्धतियों को असभ्य, पिछड़ा या गौण घोषित करती है। किंतु लोकजीवन गौण नहीं होता। लोकजीवन वह आधार है, जिसके बिना संस्कृति केवल नाम का खोल बनकर रह जाती है। जिस सांस्कृतिक परिभाषा में लोक का श्रम, स्त्री का अनुभव, किसान का ज्ञान, मजदूर का पसीना और उपेक्षित समुदायों की स्मृति नहीं समाती, वह समाज का संपूर्ण सांस्कृतिक परिचय प्रस्तुत नहीं कर सकती।

मण्डलजी संस्कृति पर भावुक गर्व करने से पहले उसकी सामाजिक संरचना को देखते हैं। वे पूछते हैं कि संस्कृति की चमकदार सतह के नीचे किसका श्रम अदृश्य बना दिया गया, किसकी भाषा को बदनाम किया गया, किसकी रीति को निम्न कहा गया और किसकी जीवन-शैली को समस्त समाज के नाम पर स्थापित कर दिया गया।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि संस्कृति किसी की निजी विरासत नहीं, समाज की साझा रचना है। यदि संस्कृति की परिभाषा पर सत्ता का एकाधिकार रहेगा, तो वह समाज के भीतर दूरी बढ़ाएगी। यदि उसके निर्माण में विविध समुदायों, जीवन-पद्धतियों और लोक-अनुभवों की सहभागिता होगी, तो वह साझा संस्कृति का रूप ग्रहण करेगी।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 25**

वर्चस्व संस्कृति नहीं, जोर-जबर्दस्ती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हाशिये के समाज या उपेक्षित समाज पर दुनिया भर की वर्चस्ववादी संस्कृतियाँ जोर-जबर्दस्ती करती रही हैं और युगों-युगों से करती चली आ रही हैं, जिसका प्रमाण इतिहास स्वयं है।" (पृ. 24)

यह पंक्ति संस्कृति के नाम पर चलते दमन को स्पष्ट रूप से पहचानती है। मण्डलजी संस्कृति और वर्चस्व के बीच का अंतर साफ करते हैं। संस्कृति वह नहीं, जिसे भय, दबाव, प्रतिष्ठा, जातिगत दंभ या सत्ता-बल से थोपा जाए। संस्कृति वह है, जो जीवन से जन्म लेती है, समाज में रचती-बसती है, लोक के व्यवहार में साँस लेती है और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है।

जहाँ स्वीकृति नहीं, केवल दबाव है, वहाँ संस्कृति नहीं, जोर-जबर्दस्ती है। जहाँ संवाद नहीं, केवल आदेश है, वहाँ संस्कृति नहीं, वर्चस्व है। जहाँ लोगों की जीवन-पद्धति को नीचा, अशुद्ध, पिछड़ा या असभ्य कहकर अपमानित किया जाता है, वहाँ सांस्कृतिक संवाद नहीं, सांस्कृतिक दमन चल रहा होता है।

वर्चस्ववादी संस्कृति सबसे पहले भाषा पर चोट करती है। वह लोगों को यह समझाना चाहती है कि तुम्हारी भाषा शुद्ध नहीं, तुम्हारी बोली को मान्य भाषा का दर्जा नहीं दिया जाता, तुम्हारा गीत साहित्य नहीं, केवल लोक-रस्म है और

तुम्हारी रीति शास्त्रीय नहीं है। धीरे-धीरे लोग अपने ही कंठ को लेकर संकोच करने लगते हैं। अपनी भाषा बोलते हुए लज्जित होते हैं, अपने गीतों को छोटा समझने लगते हैं और अपनी रीति को पिछड़ा मानने लगते हैं। वर्चस्व का वास्तविक काम वहीं पूरा होता है, जहाँ लोगों के बाहरी जीवन को बदलने से पहले उनके भीतर का आत्मविश्वास तोड़ दिया जाता है।

उसका दूसरा प्रहार स्मृति पर होता है। लोक के इतिहास को इतिहास नहीं, कथा कह दिया जाता है। लोकज्ञान को ज्ञान नहीं, केवल अनुभव कहकर हल्का कर दिया जाता है। स्त्रियों के गीतों को साहित्य नहीं, रस्म का हिस्सा माना जाता है। किसान की बुद्धि को विज्ञान नहीं, अभ्यास कह दिया जाता है। किंतु जीवन चलता रहता है और जीवन को चलाने वाले ज्ञान को छोटा कह देने से वह छोटा नहीं हो जाता।

मण्डलजी की बात की गंभीरता यहीं है। वे हाशिये के समाज पर पड़े सांस्कृतिक दबाव को कोई संयोग नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह युगों-युगों से चलती आई प्रक्रिया है। अर्थात् वर्चस्व केवल आर्थिक या राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक भी होता है। वह मनुष्य के शरीर पर ही नहीं, उसकी स्मृति, भाषा, आत्मसम्मान और जीवन-पद्धति पर भी अधिकार करना चाहता है।

किंतु लोकजीवन सहज ही हार नहीं मानता। वह दबता है, पर अपना प्राण नहीं छोड़ता। उसे किनारे किया जाता है, पर वह मिटता नहीं। वह अपने भीतर रीति, गीत, भाषा, श्रम, स्मृति और अनुभव को सहेजे रहता है। यह जीवन-शक्ति उस वर्चस्व के विरुद्ध मौन, किंतु दीर्घ संघर्ष है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि संस्कृति का नाम सुनते ही भावुकता में न बह जाएँ। पहले पूछें: यह संस्कृति किसके जीवन से बनी है? इसमें किसके अनुभव को स्थान मिला? किसे स्वीकार किया गया और किसे दबाया गया? किसे श्रेष्ठ कहा गया और किसे 'लोक' कहकर किनारे रख दिया गया? संस्कृति पर विचार करने का अर्थ केवल उसकी चमक देखना नहीं, बल्कि उसके भीतर निर्मित स्वीकृति, अस्वीकृति, सम्मान और उपेक्षा के संबंधों को भी समझना है।

वर्चस्व संस्कृति नहीं, जोर-जबर्दस्ती है। संस्कृति तभी संस्कृति है, जब वह समाज की विविध जीवन-पद्धतियों को सम्मान दे, लोक की स्मृति को स्थान दे और मनुष्य को अपनी अस्मिता के साथ जीने का अधिकार दे।

**‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 26**

मनगढ़ंत नैतिकता समाज को भ्रमित करती है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “इसका कारण है कि नैतिकता की मनगढ़ंत व्याख्या आज ही नहीं, बहुत पहले से होती आ रही है।” (पृ. 70)

यह पंक्ति समाज के उस गहरे रोग को पहचानती है, जहाँ नैतिकता जीवन की निष्पक्ष कसौटी न रहकर सुविधा के अनुसार गढ़ी गई व्याख्या बन जाती है। मण्डलजी कहते हैं कि नैतिकता की मनगढ़ंत व्याख्या आज ही नहीं, बहुत पहले से होती आ रही है। अर्थात् समाज में नैतिकता का नाम तो रहा, किंतु उसका अर्थ हमेशा न्यायपूर्ण, एकरूप और व्यावहारिक रहा हो, यह आवश्यक नहीं।

नैतिकता यदि वास्तव में नैतिकता है, तो उसकी कसौटी सबके लिए समान होनी चाहिए। अपने लोगों के लिए छूट और दूसरों के लिए कठोरता, अपने समूह की गलती पर चुप्पी और दूसरे की चूक पर हंगामा, अपने लाभ के लिए नियम बदल लेना और दूसरे के जीवन पर धर्म-नीति का उपदेश देना नैतिकता नहीं है। यह सुविधा, छल और समाज को भ्रमित करने वाला आवरण है।

मनगढ़ंत नैतिकता की पहचान उस असमान और पक्ष के अनुसार बदलती कसौटी से होती है, जिसमें शब्दों से न्याय का समर्थन किया जाता है, किंतु व्यवहार में अपने-पराए का भेद किया जाता है। साधारण व्यक्ति की छोटी चूक पर तुरंत निर्णय सुना दिया जाता है, किंतु प्रभावशाली व्यक्ति के बड़े अन्याय को परिस्थिति, विवशता या सामान्य भूल कहकर दबा दिया जाता है। अपने पक्ष के दोष के लिए कारण और सफाई खोजी जाती है, जबकि दूसरे की एक चूक को उसके चरित्र का स्थायी दोष बना दिया जाता है। नैतिकता की यही बदलती कसौटी मनगढ़ंत व्याख्या का वास्तविक रूप है।

मनगढ़ंत नैतिकता लोगों को वास्तविक प्रश्नों से दूर ले जाती है। वह समस्या को व्यक्ति के दोष तक सीमित कर देती है, किंतु उस दोष को जन्म देने वाली सामाजिक व्यवस्था को नहीं देखती। गरीब की चूक उसे दिखाई देती है, किंतु गरीबी के कारण और विवशता नहीं। स्त्री के व्यवहार पर वह तुरंत निर्णय देती है, किंतु उसके जीवन पर लादे गए दबाव, असमानता और बंधनों का हिसाब

नहीं करती। उपेक्षित समाज से वह अनुशासन माँगती है, किंतु उसके अधिकार, सम्मान और अवसर के प्रश्न पर मौन रहती है।

ऐसी नैतिकता समाज का सुधार नहीं करती। वह पक्ष के अनुसार बदलती असमान कसौटी को मजबूत करती है। जब नैतिकता का अर्थ सुविधा, संबंध और समूह के अनुसार बदलता रहेगा, तब न्याय का आधार कमजोर पड़ेगा। लोग नियम के आधार पर नहीं, संबंधों के सहारे बच निकलेंगे; मूल्य के आधार पर नहीं, समूह के दबाव में चलेंगे; और विवेक से नहीं, पक्षपात से निर्णय देंगे।

मण्डलजी की बात हमें सचेत करती है कि नैतिकता की चर्चा करने से पहले उसके आधार और उपयोग, दोनों को परखें। यह नैतिकता किसके पक्ष में काम कर रही है? क्या वह जीवन की परिस्थितियों को समझती है या दंड देने की जल्दी में है? क्या वह समस्या की जड़ तक पहुँचती है या सतह पर आरोप चिपका देती है? क्या वह कमजोर व्यक्ति के पूरे जीवन को देखती है या केवल उसकी चूक गिनती है?

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मनगढ़ंत नैतिकता न्याय नहीं देती, समाज को भ्रमित करती है। निष्पक्ष नैतिकता भाषण में नहीं, व्यवहार में दिखाई देती है। वह नियम के साथ परिस्थिति, दोष के साथ कारण और निर्णय के साथ मनुष्य के संपूर्ण जीवन-प्रसंग को भी देखती है।

मनगढ़ंत नैतिकता समाज की आँखों पर भ्रम का पर्दा डालती है, जबकि निष्पक्ष नैतिकता उसे अपने भीतर का सच देखने का साहस देती है।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 27

क्षेत्र के नाम पर नीचा दिखाना, मिथिला को अपने ही भीतर बाँटना है

मण्डलजी लिखते हैं- "आवागमन की असुविधा के कारण यदि मध्यवर्ती भाग से पूर्वी हिस्से का संपर्क कम रहा, तो यह मान लेना कि वहाँ के लोग मैथिल नहीं हैं अथवा मिथिला के नहीं हैं, अनुचित विचार है। जिस प्रकार पूर्वी हिस्से को नीचा दिखाया गया, उसी प्रकार पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सों को भी नीचा दिखाया गया है।" (पृ. 30)

यह पंक्ति क्षेत्र के नाम पर बनाई गई श्रेष्ठता और हीनता की धारणा को स्पष्ट रूप से अनुचित ठहराती है। मिथिला का कोई भाग केवल केंद्र और कोई

दूसरा भाग केवल परिधि नहीं है। भौगोलिक दूरी, नदी, बाढ़, आवागमन की असुविधा और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ लोगों के आपसी संपर्क को कम कर सकती हैं, किंतु यह दूरी किसी के मैथिल होने का अधिकार कम नहीं कर सकती।

पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी या मध्यवर्ती कहना भौगोलिक परिचय हो सकता है। किंतु जब इस परिचय के साथ ऊँच-नीच जोड़ दी जाती है, तब परिचय पूर्वाग्रह बन जाता है। किसी क्षेत्र की बोली, रहन-सहन या सांस्कृतिक रूप भिन्न होने के कारण उसे कम विकसित या कम शुद्ध मानना उचित नहीं; न इससे वहाँ के लोग कमतर मैथिल हो जाते हैं।

मिथिला एकरूपता से नहीं, विविधता से बनी है। नदी के किनारे बसे लोगों का जीवन अलग हो सकता है, सूखाग्रस्त क्षेत्र का अनुभव अलग। सीमावर्ती क्षेत्रों की भाषा में पड़ोसी भाषाओं के शब्द आते हैं, तो नगर की भाषा पर शिक्षा और रोजगार का प्रभाव पड़ता है। ये सभी रूप मैथिली के शब्द-संसार और मिथिला के सांस्कृतिक अनुभव को समृद्ध करते हैं।

किसी एक-दो जिलों की भाषा या संस्कृति को ही संपूर्ण मिथिला का मानक मान लेना भी संकीर्णता है। परिनिष्ठित भाषा की आवश्यकता होती है, किंतु उसका मानक रूप लोक-बोलियों को नीचा सिद्ध करने का अधिकार नहीं देता। मानक भाषा संवाद की सुविधा बने, स्थानीय भाषिक स्वरों को दबाने का औजार नहीं।

क्षेत्रीय हीनता-बोध का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। अनेक लेखक अपने क्षेत्र के शब्द लिखने में संकोच करते हैं। उन्हें भय रहता है कि उनकी भाषा अशुद्ध कही जाएगी या उनके अनुभव को स्थानीय कहकर छोटा कर दिया जाएगा। फलतः साहित्य से जीवन के अनेक रंग छूट जाते हैं और पाठक को अपनी वास्तविक भाषा तथा अनुभव नहीं मिल पाते।

मिथिला की एकता का अर्थ यह नहीं कि सब एक ही बोली बोलें या एक ही सांस्कृतिक रूप अपनाएँ। एकता का अर्थ है भिन्नताओं के साथ समान सम्मान। प्रत्येक क्षेत्र अपनी स्मृति, गीत, कथा, लोकज्ञान और जीवनानुभव के साथ समग्र मिथिला का हिस्सा है। जो भिन्नता को स्वीकार करता है, वही व्यापक एकता का निर्माण कर सकता है।

इस दूरी को घटाने के लिए साहित्यिक कार्यक्रम सभी जिलों और क्षेत्रों तक पहुँचें। पत्र-पत्रिकाओं में अलग-अलग क्षेत्रों के लेखकों को स्थान मिले, स्थानीय शब्द और स्मृतियाँ सहेजी जाएँ तथा नई पीढ़ी को मिथिला के संपूर्ण भौगोलिक-सांस्कृतिक रूप से परिचित कराया जाए। एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र का साहित्य पढ़ेंगे, तभी अपरिचय से जन्मे पूर्वाग्रह कम होंगे।

क्षेत्र के नाम पर नीचा दिखाना, मिथिला को अपने ही भीतर बाँटना है। पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और मध्यवर्ती, सभी साझा सांस्कृतिक भूगोल के अंग हैं। किसी भाग को किनारे करके मिथिला पूर्ण नहीं रह सकती। मिथिला की वास्तविक शक्ति तभी प्रकट होगी, जब प्रत्येक क्षेत्र को उसकी भिन्नता के साथ समान प्रतिष्ठा मिलेगी।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 28**

जाति की दीवार केवल बाहर नहीं, कुल-मूल के भीतर भी खड़ी है

मण्डलजी लिखते हैं- "समाज में जाति-जाति का भेद आज भी है। उसके भीतर, अर्थात् जाति के भीतर भी कुल-मूल का आधार है, जिसने समूह को अनेक हिस्सों में विभाजित कर रखा है। इसके परिणामस्वरूप लोग एक-दूसरे को अछूत से भी अछूत समझते हैं। अछूत का अर्थ है अपने से नीचा समझना। जब तक नीच-ऊँच का विचार रहेगा, तब तक एक-दूसरे के बीच वैमनस्य स्वाभाविक है। वहाँ हमारा क्या दायित्व बनता है, यह तो हमें स्वयं ही विचारना होगा।" (पृ. 109)

यह कथन जातिगत भेद के उस सूक्ष्म रूप को सामने लाता है, जो सामान्य चर्चा में कई बार छूट जाता है। जाति की दीवार केवल दो अलग जातियों के बीच नहीं होती। एक ही जाति के भीतर कुल-मूल, गोत्र, आर्थिक स्थिति, पेशा और पारिवारिक प्रतिष्ठा के आधार पर भी अनेक छोटे-बड़े घेरे बने रहते हैं। बाहर समानता की माँग करने वाला समूह अपने भीतर भी किसी दूसरे को नीचा समझ सकता है।

जातीय संरचना स्वयं को लगातार छोटे-छोटे खंडों में बाँटती रहती है। प्रत्येक खंड अपने से ऊपर माने जाने वाले समूह से समानता चाहता है, किंतु अपने से नीचे माने गए समूह से दूरी बनाए रखना चाहता है। इसी कारण

उत्पीड़ित व्यक्ति भी कभी-कभी दूसरे का उत्पीड़क बन जाता है। असमानता का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक श्रेष्ठता और हीनता के मूल विचार पर प्रहार नहीं होता।

मण्डलजी "अछूत" शब्द का अर्थ केवल शारीरिक स्पर्श तक सीमित नहीं रखते। किसी को अपने से नीचा समझना अपने-आप में मानसिक अस्पृश्यता है। किसी के साथ बैठने से परहेज करना, उसके घर का भोजन स्वीकार न करना, विवाह-संबंध को असंभव मानना, सभा में उसे सम्मान न देना या उसकी योग्यता को जन्म के आधार पर कम समझना, ये सब अस्पृश्यता के बदले हुए रूप हैं।

ऊँच-नीच का विचार रहेगा, तो वैमनस्य स्वाभाविक रूप से जन्म लेगा। अपमानित व्यक्ति के भीतर पीड़ा और विरोध बढ़ेगा, श्रेष्ठताबोध से भरा व्यक्ति समान संबंध स्वीकार नहीं करेगा और समाज की सामूहिक शक्ति आपसी अविश्वास में नष्ट होती रहेगी। जाति की दीवार केवल सामाजिक मेल-जोल नहीं रोकती; वह शिक्षा, रोजगार, नेतृत्व और न्यायपूर्ण अवसरों के रास्ते भी रोकती है।

आर्थिक उन्नति या आधुनिक शिक्षा मात्र से ये भेद अपने-आप समाप्त नहीं होते। अनेक शिक्षित परिवार भी विवाह, मित्रता, भोजन और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रश्न पर पुराने कुल-मूल की धारणाएँ पकड़े रहते हैं। मोबाइल, नगर और आधुनिक पोशाक बदल सकते हैं, किंतु यदि मन की ऊँच-नीच नहीं बदली, तो पुरानी व्यवस्था नए रूप में जीवित रहती है।

साहित्यिक समाज भी इस प्रश्न से बाहर नहीं है। यदि लेखक की रचना को उसकी जाति, कुल, क्षेत्र या पारिवारिक परिचय के आधार पर देखा जाए, तो साहित्य स्वयं उसी अन्याय को दोहराता है, जिसका विरोध करना उसका दायित्व है। रचना का मूल्यांकन कथ्य, भाषा, दृष्टि और सृजनात्मक सामर्थ्य के आधार पर हो; लेखक के जन्म के आधार पर नहीं।

परिवर्तन का आरंभ अपने व्यवहार की परीक्षा से होगा। हम किसे अपने घर में समान आदर के साथ बैठाते हैं, किसकी बात धैर्य से सुनते हैं, संस्था और नेतृत्व में किसे अवसर देते हैं और बच्चों को कौन-से संस्कार देते हैं, इन प्रश्नों के उत्तर में हमारा वास्तविक सामाजिक विचार प्रकट होता है। समानता की घोषणा तभी सार्थक होगी, जब वह दैनिक जीवन में उतरेगी।

जाति की दीवार केवल बाहर नहीं, कुल-मूल के भीतर भी खड़ी है। इसे तोड़ने के लिए कानून के साथ मानसिक और व्यावहारिक परिवर्तन भी आवश्यक है। मनुष्य को जन्म के खाँचे में नहीं, उसके कर्म, संवेदना और मानवीय गरिमा के आधार पर देखना होगा। व्यक्ति केवल जाति या समाज की इकाई नहीं, व्यापक संसार की इकाई भी है। यह चेतना जागेगी, तभी समानता का वास्तविक मार्ग खुलेगा।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 29**

जाति जब श्रमजीवियों को बाँटती है, शोषण की शक्ति बढ़ती है

मण्डलजी के जीवनी-संदर्भ में लिखा है- "वर्गीय स्वरूप नहीं पनपा, जातीय स्वरूप पनप गया।" (पृ. 95)

यह पंक्ति मिथिला के सामाजिक-राजनीतिक जीवन की एक गहरी उलझन को पहचानती है। किसान की समस्या समान हो सकती है, खेतिहर मजदूरों का श्रम-संकट समान हो सकता है और गरीबी की पीड़ा भी समान हो सकती है। किंतु जब लोग अपनी साझा आर्थिक समस्याओं को छोड़कर जाति के खाँचों में बँट जाते हैं, तब श्रमजीवी समाज की सामूहिक शक्ति कमजोर हो जाती है।

वर्ग का प्रश्न पूछता है कि उत्पादन कौन करता है, संपत्ति पर अधिकार किसका है और श्रम का लाभ किसे मिलता है। जाति का प्रश्न पूछता है कि जन्म के आधार पर समाज में किसे सम्मान, अवसर और अधिकार मिलता है। भारतीय समाज में ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हैं। जाति ने श्रम-विभाजन के साथ श्रमिकों की गरिमा को भी ऊँच-नीच में बाँटने का काम किया है।

इसलिए जाति के प्रश्न को छोड़कर केवल वर्ग की बात करना अधूरा है। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक अन्याय को केवल जातीय प्रतिस्पर्धा में बदल देना भी खतरनाक है। पहली दृष्टि सामाजिक अपमान को नहीं देखती, दूसरी दृष्टि श्रम और संपत्ति की असमानता को ढँक देती है। निष्पक्ष और न्यायपूर्ण समाज के लिए जातीय वर्चस्व और आर्थिक शोषण, दोनों के विरुद्ध सजगता आवश्यक है।

साम्यवाद श्रमजीवी लोगों के साझा हित को केंद्र में रखता है। किंतु

भारतीय समाज में साम्यवाद का अर्थ जाति की वास्तविकता को नकारना नहीं हो सकता। जब तक जन्म के आधार पर कोई बड़ा और कोई छोटा माना जाएगा, जब तक किसी के श्रम को सम्मानित और किसी के श्रम को हीन समझा जाएगा, तब तक वर्गीय एकता पूर्ण नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति स्वयं को साम्यवादी कहता है, किंतु अपने व्यवहार में जातीय श्रेष्ठता, श्रम का अपमान और सामाजिक दूरी बनाए रखता है, उसके घोषित विचार और जीवन-आचरण के बीच गहरा विरोध है। दूसरी ओर, जो साम्यवाद का नाम न लेते हुए भी श्रम के सम्मान, न्यायपूर्ण हिस्सेदारी, भाईचारे और सबकी गरिमा के पक्ष में खड़ा रहता है, वह साम्यवाद की मूल मानवीय भावना के अधिक निकट है। विचारधारा की वास्तविक पहचान नाम या घोषणा से नहीं, मनुष्य और समाज के प्रति व्यवहार से होती है।

मण्डलजी का जीवन और साहित्य इसी कसौटी पर विशेष महत्त्व रखते हैं। उनकी सामाजिक सक्रियता किसान, खेतिहर मजदूर, जमीन और गाँव के प्रश्नों से जुड़ी रही है। उनका साहित्य समाज के दबे-कुचले और हाशिये पर पड़े लोगों को केवल करुणा का पात्र नहीं बनाता। वह उनके श्रम, बुद्धि, संघर्ष, आत्मसम्मान और सामाजिक अधिकारों को साहित्य के केंद्र में लाता है।

वर्गीय एकता का अर्थ किसी जाति के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करना नहीं है। इसका अर्थ प्रत्येक जाति के भीतर के श्रमजीवी लोगों को साझा प्रश्नों पर जोड़ना और जहाँ शोषणकारी प्रवृत्ति है, उसकी आलोचना करना है। शोषण को किसी एक जाति से बाँधकर देखना उचित नहीं और न्याय भी किसी एक जाति का निजी अधिकार नहीं है। सामूहिक मुक्ति घृणा से नहीं, समान अधिकार और भाईचारे से संभव है।

जाति के नाम पर जब श्रमजीवी समाज बँटता है, तब सामाजिक संपत्ति पर कुछ लोगों का अधिकार और मजबूत होता है। लोग एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं और शोषण की व्यवस्था प्रश्नों के घेरे से बाहर बची रहती है। इसलिए जातीय विभाजन केवल सामाजिक दूरी नहीं बढ़ाता, आर्थिक अन्याय को भी सुरक्षित रखता है।

साम्यवाद की वास्तविक परीक्षा यहीं है। क्या वह जाति की दीवार तोड़कर श्रम, न्याय और मानवीय गरिमा के आधार पर समाज को जोड़ता है, या अपने

भीतर ही नई श्रेष्ठता उत्पन्न करता है? मण्डलजी के जीवन और साहित्य का संकेत स्पष्ट है: विचार केवल कहा नहीं जाता, उसे संघर्ष, संबंध और व्यवहार में जिया जाता है।

**‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 30**

चोर महंत तब बनता है, जब दिमाग सामंती रह जाता है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “सामंतवाद में मनुष्य की बनावट जिस रूप की रहती है, सामंतवाद पर चोट पड़ने से वह बदलती है।... किंतु समाज का मंच बहुत जटिल होता है। इसलिए समय भी लगता है और संघर्ष भी होता है। उससे भी अधिक प्रबल वैचारिक संघर्ष होता है।” (पृ. 76-77)

यह कथन सामंतवाद को केवल बीते समय की राजनीतिक अथवा आर्थिक व्यवस्था मानकर नहीं छोड़ता, बल्कि उसके प्रभाव को मनुष्य की सोच, संस्कार और संपूर्ण मानसिक ‘बनावट’ में देखता है। व्यवस्था बदलने से शासन का स्वरूप बदल सकता है, जमींदारी समाप्त हो सकती है और पुरानी पद-प्रतिष्ठा कमजोर पड़ सकती है, किंतु उस व्यवस्था से विकसित मानसिकता अपने-आप समाप्त नहीं होती। वह मनुष्य के मूल्य-बोध, पारस्परिक संबंधों और दैनिक व्यवहार में लंबे समय तक जीवित रहती है। मण्डलजी की दृष्टि में सामंतवाद का वास्तविक अंत तभी होता है, जब उसके मानसिक संस्कार भी मनुष्य के भीतर से बदलते हैं।

सामंती सोच की मूल प्रवृत्ति यह है कि वह मनुष्य का मूल्यांकन उसके कर्म, योग्यता और मानवीय गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म, कुल, पद, संपत्ति, पहुँच और प्रभुत्व के आधार पर करती है और उसी आधार पर उसे बड़ा या छोटा मानती है। इस मानसिकता में श्रम करने वाला नीचे रहता है, जबकि उसके श्रम के फल पर अधिकार जमाने वाला ऊपर माना जाता है। प्रश्न उठाने वाले को उद्दंड समझा जाता है और सत्ता के सामने सिर झुकाने वाले को संस्कारी। न्याय माँगने वाला समाज-विरोधी घोषित हो जाता है, जबकि अन्याय से लाभ उठाने वाला प्रतिष्ठित बना रहता है।

इसी उलटे मूल्य-बोध के कारण चोर महंत बन जाता है। ‘चोर’ यहाँ कोई दूसरे की वस्तु चुराने वाला नहीं है। जो दूसरे के श्रम का फल छीनता है, अवसरों

पर एकाधिकार करता है, संस्था को लोकहित के बजाय अपना प्रभाव बढ़ाने का साधन बनाता है, योग्य व्यक्ति के स्थान पर अपने लोगों को आगे करता है अथवा समाज की संपत्ति का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए करता है, वह भी सामाजिक अर्थ में चोरी करता है। किंतु यदि उसके पास धन, पद, प्रचार और प्रभाव है, तो सामंती चेतना उसके अनुचित कर्म पर दृष्टि नहीं डालती, केवल उसके ऊँचे आसन को देखती है। धीरे-धीरे समाज भी उसके कर्म की वास्तविकता भूलकर उसके पद और प्रभुत्व से प्रभावित हो उसे महंत मानने लगता है।

महंती संस्कार केवल मठ तक सीमित नहीं रहता। जहाँ कोई स्वयं को प्रश्न और उत्तरदायित्व से ऊपर मानता है, दूसरे के श्रम और उपलब्धि को अपनी कृपा का परिणाम समझता है, संस्था को निजी जागीर की तरह चलाता है अथवा प्रशंसकों का घेरा बनाकर अपनी श्रेष्ठता की घोषणा करता है, वहाँ यह संस्कार सक्रिय रहता है। ऐसा व्यक्ति धर्म, साहित्य, राजनीति, शिक्षा, समाजसेवा अथवा किसी अन्य क्षेत्र में हो सकता है। उसका बाहरी परिचय आधुनिक हो सकता है, किंतु उसकी आंतरिक सोच, मूल्य-बोध और व्यवहार सामंती बने रह सकते हैं।

समय बदलने पर सामंती चेतना अपनी भाषा और काम करने का ढंग बदल लेती है। अब प्रत्यक्ष आदेश के स्थान पर प्रभाव, वंश के स्थान पर पहुँच और खुले दमन के स्थान पर छवि-निर्माण काम करने लगता है। फलतः असमानता आधुनिक संस्थाओं के नियमों, संबंधों और व्यवहार के भीतर छिपी रहती है और इसी कारण उसे पहचानना और कठिन हो जाता है। किसी व्यक्ति की लोकप्रियता, प्रभावशाली लोगों से निकटता अथवा बाहरी सफलता उसके आचरण का नैतिक प्रमाण नहीं होती।

यहाँ सबसे गंभीर बात यह है कि सामंती व्यवहार केवल सामंत माने जाने वाले लोगों तक सीमित नहीं रहता। निरंतर उसी व्यवस्था में जीते हुए शोषित लोग भी कई बार उसके मूल्य-बोध को अपना लेते हैं। वे अन्याय से मुक्ति पाने के बजाय उसी अन्यायपूर्ण व्यवस्था में ऊँचा स्थान पाने का सपना देखने लगते हैं। जो अपमान उन्हें मिला था, अवसर पाकर वही अपमान वे दूसरों को देते हैं। जिस सामाजिक दूरी ने उन्हें पीड़ा दी थी, वही दूरी वे अपने से कमजोर लोगों के साथ बनाने लगते हैं। इस प्रकार सत्ता के आसन पर बैठने वाले लोग बदल जाते

हैं, किंतु सत्ता का व्यवहार, मूल्य-बोध और ढाँचा बना रहता है।

इसलिए सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष केवल बाहरी ढाँचे को बदलने का संघर्ष नहीं, आत्मपरीक्षण का संघर्ष भी है। प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यवहार पर दृष्टि डालकर यह विचार करना चाहिए कि कहीं वह अपनी सुविधा के लिए किसी अन्याय को सामान्य तो नहीं मान रहा, प्रश्न उठाने वाले को दबा तो नहीं रहा और अपने से कमजोर व्यक्ति के साथ वही व्यवहार तो नहीं कर रहा, जिसकी पीड़ा वह स्वयं भोग चुका है। अपने भीतर सक्रिय इन प्रवृत्तियों की पहचान वैचारिक परिवर्तन की पहली शर्त है।

सामंतवाद का वास्तविक अंत तभी होगा, जब प्रत्येक मनुष्य की समान गरिमा स्वीकार की जाएगी और सामाजिक सम्मान का आधार जन्म, पद या प्रभुत्व नहीं, लोकहितकारी आचरण बनेगा। समाज जब पदवी और प्रभुत्व के मोह से बाहर आकर मनुष्य का मूल्यांकन उसके कर्म और आचरण के आधार पर करेगा, तभी चोर के महंत बनने का रास्ता बंद होगा।

**‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 31**

समस्या की स्वीकृति निदान की पहली शर्त है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “आज का समाज दिशाहीन हो गया है। उसे दिशा दिखाने के लिए साहित्य-रचना की आवश्यकता है।” (पृ. 27)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि के साथ-साथ सामाजिक निदान के प्रथम आधार को भी स्पष्ट करती है। वे समाज को केवल दोष देने के पक्ष में नहीं हैं, किंतु उसकी दिशाहीनता को पहचानने से बचते भी नहीं हैं। उनके लिए समस्या को पहचानना, उसकी जड़ देखना और उसके दबाव को समझना निदान का विरोध नहीं, निदान का आरंभ है।

समाज में कई बार लोग तत्काल समाधान चाहते हैं, किंतु समस्या को उसके पूर्ण रूप में स्वीकार करने का धैर्य नहीं रखते। वे चाहते हैं कि रोग का नाम न लिया जाए, लेकिन दवा मिल जाए। किंतु अँधेरे का नाम लिए बिना दीपक का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि समाज यह स्वीकार ही नहीं करेगा कि दहेज, शिक्षा का खर्च, प्रतिष्ठा की होड़, आर्थिक असमानता, भूख, स्वास्थ्य, घर और

सामाजिक दबाव मनुष्य के व्यवहार को भीतर से प्रभावित करते हैं, तो निदान की भाषा केवल उपदेश बनकर रह जाएगी।

समस्या को स्वीकार करना कमजोरी नहीं है। यह सामाजिक ईमानदारी है। जो समाज अपने रोग को पहचान सकता है, वही उपचार की दिशा में बढ़ सकता है। जो समाज प्रत्येक प्रश्न को केवल व्यक्ति का दोष बना देता है, वह व्यवस्था, परंपरा, दबाव और असमानता की भूमिका को अनदेखा करता है।

मण्डलजी साहित्य को समाज का सच सामने रखने वाली शक्ति मानते हैं। साहित्य का कार्य केवल सुंदर भाषा रचना नहीं, उन स्थानों पर प्रकाश डालना भी है, जहाँ समाज अपना चेहरा देखकर असहज हो जाता है। यदि साहित्य समस्या को ही नहीं पहचानेगा, तो निदान का मार्ग किस आधार पर बनेगा?

निदान चाहना उचित है, किंतु निदान की पहली शर्त है समस्या को उसके सही नाम से स्वीकार करना। यदि भूख है तो उसे भूख कहें। यदि असमानता है तो उसे असमानता कहें। यदि दहेज जीवन तोड़ता है तो उसे परंपरा कहकर न बचाएँ। यदि शिक्षा का खर्च परिवार को दबा रहा है तो उसे केवल प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाएँ।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि समाज की दिशा साहित्य की सजावट से नहीं, सच की स्वीकृति से बनती है। समस्या को पहचानना निदान में विलंब नहीं, निदान की पहली शर्त है। जो समाज अपने संकट को ईमानदारी से देखता है, वही समाधान की दिशा में आगे बढ़ने की क्षमता जुटा सकता है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 32**

समस्या को पहचाने और समझे बिना समाधान नहीं निकलता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "समस्या और चुनौती को पहले अलग-अलग समझ लीजिए। साथ ही उन्हें दो भागों में भी बाँट लीजिए। पहला, अतीत से चली आ रही समस्याएँ और चुनौतियाँ। दूसरा, समसामयिक समस्याएँ और चुनौतियाँ।" (पृ. 110)

यह पंक्ति मण्डलजी की विचार-पद्धति का महत्त्वपूर्ण परिचय देती है। वे किसी समस्या पर भावुक प्रतिक्रिया देकर या तत्काल किसी दोषी को खोजकर नहीं रुकते। वे पहले समस्या और चुनौती का भेद स्पष्ट करने, उसके स्रोत को

पहचानने तथा इतिहास से चली आ रही स्थितियों और वर्तमान में बन रही स्थितियों की अलग-अलग जाँच करने की बात करते हैं। अराजकता से बाहर निकलने की यह पहली शर्त है।

समस्या और चुनौती एक ही बात नहीं हैं। समस्या वह बाधा, विसंगति, अभाव या अन्याय है, जो जीवन और समाज की स्वाभाविक गति में रुकावट उत्पन्न करता है। चुनौती वह दायित्व है, जो समस्या को समझकर उसका सामना करने की प्रक्रिया में सामने आता है। जातीय पूर्वाग्रह समस्या है, किंतु उसके विरुद्ध सामाजिक चेतना, शिक्षा और न्यायपूर्ण व्यवस्था विकसित करना चुनौती है। पाठकों का अभाव समस्या है, किंतु नए पाठक तैयार करना, पुस्तकें उन तक पहुँचाना और साहित्य के प्रति रुचि जगाना चुनौती है। समस्या स्थिति बताती है, चुनौती कार्य की दिशा निर्धारित करती है। दोनों को एक मान लेने से न कारण स्पष्ट होता है और न समाधान का मार्ग।

समाज में गड़बड़ी देखते ही हम कई बार दोषी खोजने लगते हैं। कोई जाति को दोष देता है, कोई संस्था को, कोई रचनाकार को, कोई पाठक को, कोई सरकार को तो कोई समय को। किंतु दोषी को पहचानना और समस्या को समझना एक ही बात नहीं है। समस्या कहाँ से जन्मी, किस स्तर पर है, किन लोगों को प्रभावित करती है, किसे लाभ पहुँचाती है और किस प्रक्रिया से निरंतर बनी हुई है, इन सबको समझना आवश्यक है। कारणों की जाँच किए बिना आरोप लगाना समस्या को और उलझा देता है।

मण्डलजी की विचार-पद्धति यहीं गंभीर हो जाती है। समस्या और चुनौती को अलग समझने के बाद वे उनके ऐतिहासिक और समसामयिक रूपों का भेद करने का निर्देश देते हैं। कुछ समस्याएँ समाज की पुरानी संरचना से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं। कुछ वर्तमान की नीतियों, संस्थाओं और व्यवहार से जन्मती हैं। कुछ पुरानी समस्याएँ नया रूप धारण करके वर्तमान में उपस्थित होती हैं, तो कुछ आज की सुविधा, स्वार्थ और निर्णयों के कारण बनती हैं। इस भिन्नता को समझे बिना सभी समस्याओं के लिए एक ही समाधान खोजना उचित नहीं।

अतीत से चली आ रही समस्याओं की जड़ें समाज के इतिहास में गहरी होती हैं। जातीय दूरी, छुआछूत, ऊँच-नीच, स्त्रियों के जीवनानुभवों को कम आँकना, अपनी भाषा को लेकर संकोच, लोकजीवन की उपेक्षा और माटी से जुड़े

लोगों के ज्ञान को महत्त्व न देना केवल आज की समस्याएँ नहीं हैं। ये इतिहास से प्राप्त वे बोझ हैं, जो समाज की सोच, संस्थाओं, व्यवहार और संबंधों में अनेक रूपों में उपस्थित हैं। इन्हें समझने के लिए किसी एक घटना या एक व्यक्ति को देखना पर्याप्त नहीं। इनके ऐतिहासिक कारण, सामाजिक विस्तार और पीढ़ीगत निरंतरता को भी देखना होगा।

ऐसी समस्याओं की चुनौतियाँ भी दीर्घकालीन होती हैं। केवल नियम बना देने से सामाजिक सोच तत्काल नहीं बदलती। पुराने पूर्वाग्रहों को दूर करने के लिए शिक्षा, संवाद, न्यायपूर्ण अवसर, सामाजिक स्मृति और निरंतर चेतना-विस्तार की आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक समस्याओं का समाधान धैर्य और लंबी सामाजिक प्रक्रिया से निकलता है। तात्कालिक आयोजन या घोषणाएँ उनकी जड़ नहीं काट सकतीं।

समसामयिक समस्याएँ वर्तमान की नीतियों, परिस्थितियों और दैनिक व्यवहार से जन्म लेती हैं। मंचों की खेमाबंदी, साहित्यिक स्वीकृति में मनमानी, रचना के स्थान पर संबंधों का महत्त्व, समीक्षा की जगह प्रचार, पाठक-निर्माण की उपेक्षा, सामाजिक माध्यमों पर तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ, संस्थागत निर्णयों में अस्पष्टता तथा कथन और व्यवहार का अंतर आज के साहित्यिक संकट के रूप हैं। इन समस्याओं को इतिहास के सिर पर रखकर अपनी जिम्मेदारी से बचा नहीं जा सकता, क्योंकि इनका निर्माण और विस्तार वर्तमान पीढ़ी के सामने हो रहा है।

समसामयिक समस्याओं की चुनौती तत्काल आत्मसमीक्षा और व्यवस्थागत सुधार से जुड़ी है। साहित्यिक समाज को अपनी संस्थाओं, मंचों, चयन-प्रक्रियाओं, समीक्षा-पद्धति, पाठकीय संबंधों और दैनिक आचरण की निष्पक्ष जाँच करनी चाहिए। जहाँ नियम नहीं हैं, वहाँ स्पष्ट नियम बनाए जाएँ। जहाँ नियम हैं, वहाँ उनका समान रूप से पालन हो। जहाँ निर्णय कुछ लोगों की पसंद-नापसंद पर निर्भर हैं, वहाँ पारदर्शिता और साहित्यिक कसौटियाँ स्थापित की जाएँ। वर्तमान की गलती को वर्तमान की जिम्मेदारी के साथ स्वीकार किए बिना सुधार संभव नहीं।

ऐतिहासिक और समसामयिक समस्याएँ एक-दूसरे से पूरी तरह अलग भी नहीं रहतीं। पुराने जातीय, लैंगिक या भाषिक पूर्वाग्रह वर्तमान की संस्थाओं

और मंचों में नए रूप में प्रकट हो सकते हैं। इसी प्रकार आज के पक्षपातपूर्ण निर्णय पुरानी असमानताओं को और गहरा कर सकते हैं। इसलिए विभाजन का अर्थ उनके संबंध को तोड़ना नहीं, बल्कि समस्या के मूल स्रोत और वर्तमान रूप, दोनों को स्पष्ट करना है। इतिहास की भूमिका समझना आवश्यक है, किंतु इतिहास के नाम पर वर्तमान की जिम्मेदारी टालना उचित नहीं।

यदि इतिहास से आई और वर्तमान में बनी समस्याओं को एक साथ मिला दिया जाए, तो उनके कारण, स्वरूप और समाधान तीनों उलझ जाएँगे। इतिहास के गहरे रोग को आज के आक्रोश या गाली से दूर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार वर्तमान की मनमानी को पुराने इतिहास का परिणाम कहकर छोड़ देना भी उचित नहीं। समस्या की प्रकृति अलग होगी, तो समाधान की पद्धति भी अलग होगी। किसी समस्या के लिए दीर्घकालीन सामाजिक शिक्षा आवश्यक होगी, किसी के लिए संस्थागत नियम और पारदर्शी व्यवस्था, किसी के लिए मंच का स्पष्ट अनुशासन और किसी के लिए व्यक्ति को अपने पूर्वाग्रह, सुविधा और व्यवहार की समीक्षा करनी होगी।

यह विचार-पद्धति मैथिली साहित्य पर भी उसी प्रकार लागू होती है। पाठकों की कमी एक समस्या है, किंतु इतना कह देना पर्याप्त नहीं। यह भी देखना आवश्यक है कि पुस्तकों को विद्यालयों, महाविद्यालयों, पुस्तकालयों, गोष्ठियों और सामान्य लोगों तक पहुँचाने के लिए कितना श्रम हो रहा है। प्रकाशन और वितरण की व्यवस्था कैसी है, साहित्य की चर्चा सीमित घेरे में रहती है या नए पाठकों तक पहुँचती है तथा लेखक और पाठक के बीच संवाद की क्या स्थिति है, ये सभी प्रश्न पाठकों के अभाव के कारणों को स्पष्ट करते हैं।

आलोचना की कमी भी केवल संख्या का प्रश्न नहीं है। जो आलोचना लिखी जा रही है, वह रचना के गहरे पाठ, तर्क और साहित्यिक कसौटियों पर आधारित है या समूह की पसंद-नापसंद, व्यक्तिगत संबंधों और स्थापित प्रतिष्ठा के प्रभाव पर, यह देखना आवश्यक है। रचनाकारों की उपेक्षा का प्रश्न भी इसी प्रक्रिया से जुड़ा है। हम किसे पढ़ते हैं, किसे पाठ्यक्रम, मंच, समीक्षा और चर्चा में स्थान देते हैं, किसे भूल जाते हैं और इस चयन का साहित्यिक आधार क्या है, इसकी निष्पक्ष जाँच होनी चाहिए।

नए रचनाकारों के प्रवेश के अवसर, पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण,

पाठकीय संवाद, संस्थाओं के निर्णय और मंचों की कसौटियाँ मैथिली साहित्य की समस्याओं को समग्र रूप में समझने के आवश्यक पक्ष हैं। समस्या को पहचानने का अर्थ केवल दोषी खोजना नहीं, बल्कि उस संपूर्ण प्रक्रिया को देखना है, जिसमें साहित्य लिखा, प्रकाशित, पढ़ा, पढ़ाया, चर्चित और स्वीकृत होता है। यदि प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है, तो किसी एक व्यक्ति को दोष दे देने से समस्या समाप्त नहीं होगी।

मण्डलजी का “विभाजित कर लीजिए” कहना व्यावहारिक चिंतन की पद्धति है। विभाजन से समस्या छोटी नहीं होती, उसका स्वरूप स्पष्ट होता है। जिस समाज में समस्या पहचानने की पद्धति नहीं होती, वहाँ समाधान घोषणा बनकर रह जाता है। जिस साहित्यिक समाज में चुनौतियों की चर्चा तो होती है, किंतु उनके स्तर, स्रोत और रूप को अलग-अलग नहीं समझा जाता, वहाँ विचार गोल-गोल घूमता रहता है।

अराजकता केवल व्यवस्था के अभाव से नहीं, विचार की असावधानी से भी बनती है। प्रश्न ठीक नहीं बनेगा, तो उचित उत्तर नहीं मिलेगा। रोग स्पष्ट रूप से पहचाना नहीं जाएगा, तो उपचार गलत होगा। समस्या इतिहास की है और उपचार आयोजन तक सीमित है, तो परिणाम प्रभावहीन रहेगा। समस्या व्यवहार की है और चर्चा सिद्धांत तक सीमित है, तो परिवर्तन नहीं आएगा।

‘पयस्विनी’ हमें सिखाती है कि उलझन की गाँठ खोलने के लिए धैर्य और क्रमबद्ध विचार आवश्यक है। पहले समस्या और चुनौती का भेद समझें। उसके बाद ऐतिहासिक और समसामयिक रूपों को अलग करें। फिर उनके कारण, प्रभाव और समाधान की संभावनाओं को परखें। जो अतीत से चला आ रहा है, उसे इतिहास के विवेक से समझें। जो आज बन रहा है, उसे वर्तमान की जिम्मेदारी से देखें। तब अराजकता केवल आरोप का विषय नहीं रहेगी, बल्कि समझी और सुलझाई जा सकने वाली सामाजिक-साहित्यिक समस्या बनेगी।

समस्या को पहचाने और समझे बिना समाधान नहीं निकलता। अराजकता घटाने का पहला कदम समस्या की स्पष्ट पहचान, दूसरा उसके कारणों का निष्पक्ष विवेचन, तीसरा उचित और न्यायपूर्ण व्यवस्था तथा चौथा निरंतर कार्य है। मण्डलजी की दृष्टि हमें इसी क्रम का पाठ पढ़ाती है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 33**

जड़ तक पहुँचे बिना समाधान स्थायी नहीं होता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हर दिन समाज के भीतर किसी-न-किसी रूप में विग्रह की जड़ रोपी जा रही है; ऐसी स्थिति में न्यायपूर्ण और संतुलित सामाजिक जीवन जी पाना बच्चों का खेल नहीं है।" (पृ. 26)

यह पंक्ति निदान के सबसे कठिन पक्ष को सामने लाती है। समाज में समस्याएँ अचानक ऊपर से नहीं उतरतीं, उनकी जड़ें भीतर-ही-भीतर रोपी जाती हैं। कभी परंपरा के नाम पर, कभी जाति के नाम पर, कभी प्रतिष्ठा के नाम पर और कभी धर्म, मर्यादा, संस्कार या परिवार के दबाव के नाम पर। जब समाज स्वयं प्रतिदिन उन जड़ों को सींचता रहता है, तब केवल उपदेश से उनके परिणामों को रोका नहीं जा सकता।

समाज कई बार लक्षण पर क्रोधित होता है, कारण पर चुप रहता है। वह व्यक्ति का अनुचित व्यवहार देखता है, किंतु उस व्यवहार के पीछे की भूख, असुरक्षा, दहेज, शिक्षा का खर्च, घर का दबाव, स्वास्थ्य-संकट, बेरोजगारी, जातीय भय और सामाजिक अपमान नहीं देखता। फलतः निर्णय तो तुरंत हो जाता है, किंतु न्याय अपने संपूर्ण अर्थ में उपस्थित नहीं हो पाता।

यदि हम केवल घटना देखेंगे और उसकी जड़ नहीं देखेंगे, तो समाधान सतही रह जाएगा। किसी व्यक्ति की चूक को उसके चरित्र का फैसला बना देना आसान है। किंतु यह पूछना कठिन है कि समाज की संरचना उसे किस दिशा में धकेल रही थी। परिवार, समाज, व्यवस्था और संस्कृति मिलकर उसके जीवन पर कैसा दबाव बना रहे थे।

मण्डलजी की चेतावनी इसी कारण गंभीर है। यदि विग्रह की जड़ समाज के भीतर निरंतर रोपी जा रही है, तो न्यायपूर्ण और संतुलित सामाजिक जीवन जी पाना आसान नहीं। ऐसा जीवन केवल अच्छे उपदेशों से नहीं बनता। उसके लिए जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को समझना, संबंधों का न्यायपूर्ण आधार बनाना, असमानता घटाना, भय के स्थान पर विश्वास देना और मनुष्य को गरिमा के साथ जीने देना आवश्यक है।

सूखे पत्तों पर पानी छिड़कने से पेड़ नहीं बचता; उसके लिए जड़ों तक

पानी पहुँचना आवश्यक है। इसी प्रकार समाज में केवल ऊपरी व्यवहार सुधारने के भाषण से निदान नहीं होगा। दहेज की जड़, शिक्षा-व्यवस्था की जड़, आर्थिक असमानता की जड़, जातीय दूरी की जड़, स्त्री-विरोधी सोच की जड़, अंधविश्वास की जड़ और प्रतिष्ठा की होड़ की जड़ तक पहुँचना होगा।

नैतिकता तभी निष्पक्ष बनती है, जब वह कारणों तक पहुँचती है। केवल दंड नैतिकता नहीं है। केवल आरोप सामाजिक सुधार नहीं है। केवल उपदेश निदान नहीं है। निदान तब आरंभ होता है, जब समाज यह स्वीकार करता है कि समस्या केवल व्यक्ति के भीतर नहीं, समाज की संरचना में भी है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि जड़ तक पहुँचे बिना समाधान स्थायी नहीं होता। यदि विग्रह की जड़ें प्रतिदिन रोपी जा रही हैं, तो शांति, न्याय और नैतिक जीवन की फसल अपने-आप नहीं उगेगी। समाज की जड़ों को देखना होगा, उन तक पहुँचना होगा और तभी नए जीवन का बीज बोना होगा।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 34

दूर खड़े होकर निर्देश देने से नहीं, सहभागिता से समाधान निकलता है।

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "यदि हृदय से दबे-कुचले समाज की भाषा, साहित्य और संस्कृति के संघर्ष को स्नेहपूर्वक अपनाया जाएगा, तो निश्चित रूप से हाशिये के समाज का कल्याण भी होगा और उसके भावी जीवन की आशा भी अवश्य जगेगी।" (पृ. 29)

यह पंक्ति समाधान की सामाजिक पद्धति समझाती है। मण्डलजी यहाँ 'हृदय से' और 'स्नेहपूर्वक' अपनाने की बात करते हैं। अर्थात् समाज के प्रश्न दूर से देखने की वस्तु नहीं हैं। जनमानस के भीतर उतरना होगा, उनकी पीड़ा, संघर्ष और आशा को अपनी सामाजिक जिम्मेदारी बनाना होगा।

समाधान आदेश से नहीं निकलता। समाधान सहभागिता से निकलता है। केवल यह कहना कि समाधान दिया जाए, पर्याप्त नहीं। यदि प्रश्न समाज का है, तो उत्तर भी समाज की सहभागिता से बनेगा। लेखक प्रश्न उठाता है, पाठक अपने विचार जोड़ता है, समाज अनुभव देता है और विमर्श धीरे-धीरे समाधान की दिशा खोलता है।

किनारे से निर्देश देने और विमर्श में अंतर है। किनारे खड़ा व्यक्ति कहता

है- यह भी करो, वह भी करो, तब मानेंगे। विमर्श बराबरी के धरातल पर कहता है- यह प्रश्न है, हम क्या सोचते हैं, आप क्या सोचते हैं और मिलकर रास्ता कैसे बनेगा? किनारे से निर्देश देना लेखक को परीक्षा में खड़ा करता है; विमर्श समाज को जिम्मेदारी के धरातल पर उतारता है।

समाज का प्रश्न किसी एक व्यक्ति, एक पोस्ट या एक लेखक का गृहकार्य नहीं है। जिसे सचमुच समाधान चाहिए, उसे अपना अनुभव, अपनी समझ, अपना साहस और अपने हिस्से की जिम्मेदारी भी सामने रखनी होगी। किनारे खड़े होकर निर्देश देना आसान है, पर समस्या के भीतर उतरकर समाधान में हाथ बँटाना कठिन।

मण्डलजी का “स्नेहपूर्वक अपनाने” का आग्रह इसी कारण महत्त्वपूर्ण है। दबे-कुचले समाज के संघर्ष को केवल विषय बना देना समाधान नहीं है। उसे हृदय से अपनाना, उसके पक्ष में खड़ा होना, उसकी भाषा, साहित्य, संस्कृति और जीवन-संघर्ष को सम्मान देना ही समाधान की वास्तविक दिशा है।

‘पयस्विनी’ हमें सिखाती है कि समाधान का रास्ता संवेदना, सहभागिता और जिम्मेदारी से बनता है। जो समाज केवल प्रश्न पूछता है, किंतु उत्तर के निर्माण में भाग नहीं लेता, वह समाधान का वातावरण नहीं बनाता; वह किनारे से निर्देश देने की प्रवृत्ति को ही बढ़ाता है।

समाधान चाहिए, तो विमर्श में उतरें। विचार जोड़ें। अनुभव सामने रखें। असहमति व्यक्त करें, किंतु तर्क के साथ। समाज के दुःख को केवल टिप्पणी न बनाएँ, अपनी जिम्मेदारी बनाएँ। किनारे से निर्देश देने से नहीं, सहभागिता से समाधान निकलता है।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 35

खुला विमर्श उलझन की गाँठ खोलता है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “इस प्रश्न का समाधान सरल नहीं है। फिर भी, यदि खुलकर वाद-विवाद हो, तो समस्या की तीव्रता कुछ हद तक कम की जा सकती है।” (पृ. 70)

यह पंक्ति समाधान के मार्ग पर मण्डलजी की व्यावहारिक दृष्टि को सामने लाती है। वे जानते हैं कि समाज की उलझन साधारण नहीं है। नैतिकता की

मनगढ़ंत व्याख्या, तरह-तरह के दोष, एक जगह ईमानदारी और दूसरी जगह बेईमानी, गुट, खेमाबंदी, संबंधों का दबाव और सुविधाओं का जाल एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए उनका समाधान भी सहज नहीं है।

उलझन को सुलझाना भाषण देने जैसा सरल काम नहीं है। मंच पर अच्छी-अच्छी बातें कह देना आसान है। कोई पोस्ट लिख देना और दूसरों के दोष गिना देना भी आसान है। कठिन है अपने समूह, सुविधा, संबंध और व्यवहार के भीतर उतरना। कठिन है यह स्वीकार करना कि समस्या केवल दूसरों में नहीं, हमारी सामाजिक संरचना में भी है।

समाज में कई प्रकार के गुट बनते हैं। कुछ जाति के नाम पर, कुछ संस्था के नाम पर, कुछ साहित्यिक प्रतिष्ठा के नाम पर और कुछ व्यक्तिगत निकटता के आधार पर। बाहर से सभी समाज, साहित्य, संस्कृति, समानता और न्याय की बात करते हैं। किंतु भीतर-ही-भीतर किसे आगे बढ़ाना है, किसे रोकना है, किसका नाम लेना है, किसे भुला देना है, किसकी रचना पढ़नी है और किसे अनदेखा करना है, ये सब अलग-अलग हिसाब से तय होते रहते हैं।

ऐसी उलझन चुप्पी से नहीं खुलेगी। चुप्पी कई बार अन्याय की साथी बन जाती है। यदि गलत बात पर कोई नहीं बोलेगा, तो वह धीरे-धीरे नियम जैसी लगने लगेगी। यदि पक्षपात पर प्रश्न नहीं उठेगा, तो पक्षपात परंपरा बन जाएगा। यदि गुटबाजी को नाम लेकर पहचाना नहीं जाएगा, तो वह समाज के सामान्य व्यवहार के रूप में स्वीकार होने लगेगी।

मण्डलजी खुलकर वाद-विवाद की बात करते हैं। यह वाद-विवाद गाली-गलौज नहीं, बल्कि ऐसा विमर्श है, जहाँ प्रश्न स्पष्ट रूप से रखे जाएँ, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किए जाएँ, पाठ और व्यवहार के उदाहरण सामने लाए जाएँ और बात समाज के सामने खुले रूप में आए। खुले विमर्श का अर्थ है गुटबाजी की फुसफुसाहट छोड़कर बात को सार्वजनिक विवेक के सामने लाना, ताकि उसकी जाँच तर्क, प्रमाण और निष्पक्ष व्यवहार की कसौटी पर की जा सके।

किंतु खुले विमर्श के लिए तैयारी आवश्यक है। केवल आवाज ऊँची कर लेना पर्याप्त नहीं। अध्ययन, धैर्य, भाषा पर संयम, तर्क का आधार और निष्पक्षता चाहिए। जो विमर्श अपमान में बदल जाए, वह समाधान नहीं देता। जो विमर्श अपने समूह को बचाने के लिए किया जाए, वह न्याय नहीं करता। विमर्श तभी

उपयोगी होता है, जब उसका लक्ष्य किसी मनुष्य को पराजित करना नहीं, समस्या को समझकर समाधान का मार्ग खोलना हो।

यहाँ साहित्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। साहित्य समाज के दबे हुए जीवन को आवाज देता है, किंतु साहित्यिक समाज स्वयं यदि गुट, पूर्वाग्रह और सुविधा में फँसा रहेगा, तो उसकी आवाज कमजोर पड़ जाएगी। इसलिए साहित्य के भीतर भी खुली समीक्षा, पाठ-आधारित चर्चा, असहमति और ईमानदार संवाद आवश्यक हैं।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि जटिल प्रश्नों का तत्काल समाधान नहीं मिलता। किंतु प्रश्नों को दबाए रखना समाधान का मार्ग और कठिन बना देता है। खुला वाद-विवाद कम-से-कम समस्या को उसके वास्तविक रूप और नाम के साथ सामने लाता है। जो बात भीतर-ही-भीतर समाज को काटती रहती है, वह सार्वजनिक विवेक के सामने आती है और समाधान की संभावना खुलती है।

खुला विमर्श उलझन की गाँठ खोलता है। गाली से नहीं, गंभीर प्रश्न से। खेमाबंदी से नहीं, निष्पक्ष संवाद से। चुप्पी से नहीं, समाज के सामने सच रखने के साहस से।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 36**

भाषण की नैतिकता नहीं, व्यवहार की ईमानदारी चाहिए

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "हमारे यहाँ नैतिकता केवल भाषण बनकर रह गई है। व्यावहारिक रूप में कहीं कुछ नहीं है।" (पृ. 70)

यह पंक्ति मण्डलजी की सामाजिक आलोचना की धार को सामने लाती है। वे नैतिकता के नाम पर चल रहे खोखलेपन को भली-भाँति पहचानते हैं। उनके लिए नैतिकता भाषण, मंचीय शब्द, उपदेश, संस्कार का दावा या परंपरा का गर्व भर नहीं है। नैतिकता तभी अर्थपूर्ण होती है, जब वह व्यवहार में उतरकर दिखाई देती है।

समाज में नैतिकता की चर्चा बहुत होती है। लोग चरित्र, मर्यादा, संस्कृति, धर्म, परंपरा और सामाजिक शुचिता की बातें करते हैं। किंतु जब इन सबको व्यवहार की कसौटी पर परखा जाता है, तब जाति, गुट, लोभ, सुविधा, अन्याय, असमानता और अवसरवाद सामने आ जाते हैं। मण्डलजी कथनी और करनी के

इसी अंतर को पहचानते हैं।

साहित्यिक समाज भी इस प्रश्न से बाहर नहीं है। मंच पर लेखक का सम्मान हो, भाषण में साहित्य की महिमा गाई जाए, संस्था के दस्तावेजों में प्रोत्साहन की घोषणा हो, किंतु व्यवहार में जातिगत दूरी, गुटबंदी, उपेक्षा और चुप्पी बनी रहे, तो यह कैसी नैतिकता है? यदि महत्त्वपूर्ण साहित्य पढ़ा न जाए, उसके प्रश्नों पर संवाद न हो और जीवन के कठिन सत्य को अनदेखा कर दिया जाए, तो साहित्यिक नैतिकता भाषण भर बनकर रह जाती है।

मण्डलजी भाषण की नैतिकता पर भरोसा नहीं करते। वे व्यवहार की ईमानदारी माँगते हैं। यदि आप भाषा-प्रेमी हैं, तो देखें कि उस भाषा में किसका जीवन बोलता है। यदि आप साहित्य-सेवी हैं, तो साहित्य को पाठकों तक पहुँचाएँ। यदि आप समाज-चिंतक हैं, तो समाज के दबे-कुचले लोगों के संघर्ष को अपनी चिंता बनाएँ।

नैतिकता की बात करना सरल है, निष्पक्ष व्यवहार करना कठिन। भाषण में समानता स्वीकार करना आसान है, व्यवहार में बराबरी देना कठिन। मंच पर वंचित समाज की चर्चा करना आसान है, उसके साहित्य और विचार को केंद्र में स्थान देना कठिन। मण्डलजी का प्रश्न समाज की नैतिकता को इसी कठिन कसौटी पर परखता है।

व्यवहार की ईमानदारी की पहली कसौटी यह है कि एक ही मूल्य सब पर समान रूप से लागू हो। अपने लोगों के लिए छूट और दूसरों के लिए कठोरता, अपने पक्ष के अन्याय पर चुप्पी और दूसरे की चूक पर हंगामा नैतिकता नहीं है। यह सुविधा और पक्षपात का व्यवहार है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्यिक ईमानदारी भाषण से सिद्ध नहीं होती। वह चयन, अध्ययन, संवाद, पक्षधरता और निष्पक्ष व्यवहार से सिद्ध होती है। जो समाज व्यवहार में अन्याय ढोता है, उसका नैतिक भाषण विश्वसनीय नहीं रह जाता।

भाषण की नैतिकता नहीं, व्यवहार की ईमानदारी चाहिए। क्योंकि साहित्य और समाज की साख शब्दों की ऊँचाई से नहीं, जीवन के पक्ष में किए गए ईमानदार व्यवहार से बनती है।

## 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 37

शब्द आगे बढ़ जाने से जीवन नहीं बदलता

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "शाब्दिक रूप में भले ही हम कितना भी आगे बढ़ जाएँ, जीवन और समाज उससे थोड़े ही आगे बढ़ जाएँगे।" (पृ. 27)

यह पंक्ति मण्डलजी की व्यावहारिक दृष्टि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण संकेत है। वे शब्दों के महत्त्व को नकारते नहीं, किंतु शब्दों के भ्रम में फँसते भी नहीं। उनके लिए शब्द आवश्यक हैं, क्योंकि शब्द विचार खोलते हैं। किंतु केवल शब्द पर्याप्त नहीं। यदि शब्द जीवन में नहीं उतरते, तो वे सजावट बनकर रह जाते हैं।

समाज में प्रगति, समानता, संस्कृति, साहित्य, सम्मान, न्याय, लोकसेवा, स्त्री-गरिमा और भाषा-प्रेम जैसे शब्द बार-बार कहे जाते हैं। मंचों पर कहे जाते हैं, लेखों में लिखे जाते हैं, प्रस्तावों में आते हैं और संस्थाओं के दस्तावेजों में दर्ज होते हैं। शब्दों के स्तर पर समाज बहुत आगे बढ़ा हुआ दिखाई दे सकता है। किंतु मण्डलजी यहीं पूछते हैं: व्यवहार में क्या बदला? जीवन के धरातल पर कौन-सा परिवर्तन आया? जो लोग कल हाशिये पर थे, क्या वे आज सचमुच केंद्र में आए हैं या केवल उनका नाम भाषणों में जोड़ दिया गया है?

भाषा में समानता की बात हो, किंतु व्यवहार में जातिगत दूरी बनी रहे, तो शब्द आगे बढ़े हैं, समाज नहीं। साहित्य के लोकतंत्रीकरण की बात हो, किंतु दबे-कुचले लोगों की रचनाएँ पढ़ी न जाएँ, तो शब्द आगे बढ़े हैं, पाठकीय दृष्टि नहीं। स्त्री-सम्मान की बात हो, किंतु स्त्रियों के कंठ में सुरक्षित ज्ञान को साहित्य का आधार न माना जाए, तो शब्द आगे बढ़े हैं, संस्कृति-बोध नहीं।

शब्दों की प्रगति कभी-कभी समाज को अपने-आप से संतुष्ट भी कर देती है। लोग सोचने लगते हैं कि हम प्रगतिशील शब्द बोल रहे हैं, इसलिए हम प्रगतिशील हैं। किंतु मण्डलजी की कसौटी शब्द नहीं, व्यवहार है। हम क्या पढ़ते हैं, किसे स्थान देते हैं, किसे सुनते हैं, किसे किनारे रखते हैं, किस जीवन को सम्मान देते हैं और किस जीवन को केवल भाषण में याद करते हैं, समाज का वास्तविक चेहरा यहीं दिखाई देता है। प्रगति शब्दों की चमक से नहीं, व्यवहार की निष्पक्षता से पहचानी जाती है। वास्तविक प्रगति वही है, जो शब्दों से आगे बढ़कर व्यवहार, संबंध और सामाजिक स्थान में उतरती है।

इसी कारण भाषा-प्रेम भी केवल घोषणा से सिद्ध नहीं होता। मैथिली पर गर्व करना अच्छा है, किंतु उस गर्व की वास्तविक परीक्षा व्यवहार में होती है। मैथिली को केवल घर की भावुक बोली, पर्वों के गीत या स्मृति की मधुर भाषा बनाकर रखना भाषा-प्रेम नहीं है। भाषा-प्रेम तब सार्थक होता है, जब मैथिली में समाज के कठिन प्रश्न लिखे जाएँ, मैथिली में तर्क-विमर्श हो, मैथिली में अध्ययन और विश्लेषण आगे बढ़े, मैथिली में दबे-कुचले लोगों के अनुभवों को स्थान मिले और मैथिली नई पीढ़ी के लिए सोचने की समर्थ भाषा बने। भाषा से प्रेम करने का वास्तविक अर्थ है उसे शिक्षा, विचार, संघर्ष, संवाद और सामाजिक व्यवहार में सक्रिय रखना; केवल मंच पर गौरव का शब्द बनाकर नहीं।

यदि मैथिली में केवल गौरव के गीत रहेंगे, किंतु समाज की पीड़ा नहीं बोलेगी, तो भाषा अधूरी रहेगी। यदि मैथिली में केवल परंपरा की प्रशंसा होगी, किंतु परंपरा के भीतर के अन्याय पर प्रश्न नहीं उठेंगे, तो भाषा सजी हुई होगी, सजग नहीं। यदि मैथिली में केवल प्रसिद्ध लोगों की चर्चा होगी, किंतु किसान, मजदूर, स्त्री, माटी से जुड़े लोग और उपेक्षित समाज का जीवन नहीं आएगा, तो भाषा अपने लोक का संपूर्ण भार नहीं उठा सकेगी।

शब्दों में भाषा जीवित रह सकती है, किंतु जीवन में उतरकर ही वह शक्ति बनती है। भाषा तब मजबूत होती है, जब उसके लोग उसमें अपनी हँसी, अपमान, श्रम, पीड़ा, संघर्ष, प्रश्न और भविष्य, सब कुछ व्यक्त करते हैं। भाषा-प्रेम तभी सार्थक होता है, जब वह जीवन की कठिनाइयों से मुँह नहीं मोड़ता।

साहित्य के क्षेत्र में यह बात और भी आवश्यक है। लोक, समाज, संघर्ष, संस्कृति, हाशिया, अस्मिता और लोकतंत्रीकरण जैसे शब्द आकर्षक अवश्य हैं, किंतु ये शब्द अपने-आप साहित्यिक मूल्य नहीं बनाते। यदि इन शब्दों के साथ अध्ययन नहीं, श्रम नहीं, पाठकीय आधार नहीं, निरंतरता नहीं और निष्पक्षता नहीं, तो वे भीड़ में बोले गए नारे भर बन जाते हैं। साहित्य का अर्थ नारों से नहीं, जीवन से जुड़े कार्य से बनता है। जो शब्द जीवन तक नहीं पहुँचता, वह विचार नहीं बनता; और जो विचार व्यवहार में नहीं उतरता, वह समाज को आगे नहीं बढ़ा सकता।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि शाब्दिक प्रगति और वास्तविक प्रगति के बीच की दूरी को देखें। कागज पर समाज बहुत आगे बढ़ सकता है, किंतु जीवन

में वह तभी आगे बढ़ेगा, जब परिवर्तन उसके दैनिक व्यवहार में उतरेगा। क्रियाशील जीवन से ही समाज का वास्तविक रूप बदलता है।

शब्द आगे बढ़ जाने से जीवन अपने-आप नहीं बदलता। जीवन तब बदलता है, जब शब्द व्यवहार में उतरते हैं, व्यवहार जिम्मेदारी बनता है और जिम्मेदारी निरंतर कर्म में बदलती है। हमारा कर्तव्य यही है कि विचार को केवल बोले गए वाक्य के रूप में न छोड़ें, बल्कि उसे निष्ठा और ईमानदारी के साथ जीए गए जीवन से जोड़ते रहें। यह कार्य निरंतर है और सबसे पहले अपने लिए है। जब हम स्वयं अपने व्यवहार को सुधारने का साहस करेंगे, तभी समाज को सुधारने की हमारी बात अधिक प्रामाणिक, अधिक प्रभावकारी और अधिक अर्थपूर्ण बनेगी।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 38**

आवाज की ऊँचाई ईमानदारी का प्रमाण नहीं

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "वैसे, दोषों में भी एकरूपता नहीं है। तरह-तरह के दोष फैले हुए हैं। एक ही व्यक्ति एक जगह ईमानदार है तो दूसरी जगह बेईमान।" (पृ. 70)

यह पंक्ति मनुष्य और समाज, दोनों को परखने की एक सूक्ष्म कसौटी देती है। मण्डलजी कहते हैं कि दोषों में भी एकरूपता नहीं होती। एक ही व्यक्ति एक जगह ईमानदार हो सकता है और दूसरी जगह बेईमान। यह बात सुनने में सहज लगती है, किंतु सामाजिक व्यवहार में इसे स्वीकार करना आसान नहीं।

हम कई बार मनुष्य को उसके किसी एक रूप से परख लेते हैं। कोई ऊँची आवाज में बोलता है तो उसे निर्भीक मान लेते हैं। कोई कठोर भाषा बोलता है तो उसे सच्चा समझ लेते हैं। कोई मधुर भाषा बोलता है तो उसे सज्जन मान लेते हैं। कोई विद्वत्तापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता है तो उसे निष्पक्ष समझ लेते हैं। जबकि बाहरी शैली मनुष्य के संपूर्ण चरित्र का प्रमाण नहीं होती।

आवाज की ऊँचाई ईमानदारी का प्रमाण नहीं है। कठोर भाषा बोलने से कोई निष्पक्ष सिद्ध नहीं हो जाता। गाली देने से कोई समाज-सुधारक नहीं बनता और सुसज्जित भाषा लिखने से कोई निर्दोष नहीं हो जाता। विद्वत्ता का आवरण ओढ़ लेने से भी व्यावहारिक ईमानदारी सिद्ध नहीं होती। वास्तविक कसौटी यह

है कि वह लाभ के समय क्या करता है, संबंधों के दबाव में किस पक्ष में खड़ा होता है, अपने समूह के दोष पर क्या बोलता है और दूसरे के अधिकार के प्रश्न पर कहाँ खड़ा रहता है। यह देखना भी आवश्यक है कि कार्य के क्रम में वह किन बातों को प्राथमिकता देता है और कैसी व्यवस्था का समर्थन करता है। जो व्यवस्था मनुष्य और आमजन को आगे बढ़ाने के बजाय पीछे धकेलती है, अतीत के मोह में उलझाती है या कल्पित भविष्य के सपने दिखाकर वर्तमान के वास्तविक प्रश्नों से दूर ले जाती है, उसे जनहितकारी नहीं कहा जा सकता। ईमानदारी की परीक्षा तब होती है, जब विचार और योजनाएँ आमजन के वर्तमान जीवन को बेहतर बनाने की दिशा में काम करें।

कोई कठोर भाषा बोलकर लोगों का भरोसा छलता है तो कोई सुसज्जित वाक्यों के माध्यम से। पहला छल कान तक पहुँचता है, दूसरा आँख तक। किंतु दोनों की वास्तविक परीक्षा व्यवहार में होती है। भाषा, स्वर और शैली बदल जाने से छल का चरित्र नहीं बदलता।

मण्डलजी के कथन में “एक जगह ईमानदार, दूसरी जगह बेईमान” बहुत बड़ा सामाजिक संकेत है। यह बताता है कि मनुष्य के व्यवहार को अलग-अलग परिस्थितियों में परखना चाहिए। कोई धन के मामले में ईमानदार हो सकता है, किंतु जाति के प्रश्न पर पक्षपाती। कोई भाषा-प्रेम में सच्चा हो सकता है, किंतु साहित्यिक मूल्यांकन में गुटबाज। कोई सार्वजनिक मंच पर समानता का पक्षधर हो सकता है, किंतु अपने घर-परिवार के व्यवहार में भेदभावपूर्ण।

इसलिए समाज में घोषणाएँ नहीं, व्यवहार की निरंतरता देखनी चाहिए। ईमानदारी कोई एक घटना नहीं, जीवन-व्यवहार की निरंतर प्रक्रिया है। एक जगह अच्छा काम कर लेने से दूसरी जगह की बेईमानी मिट नहीं जाती। इसी प्रकार एक चूक के आधार पर मनुष्य के पूरे जीवन को खारिज कर देना भी उचित नहीं। किंतु यदि उसका व्यवहार लगातार पक्षपात, सुविधा और लाभ की ओर झुका रहता है, तो उसे आवाज की ऊँचाई के पीछे छिपाया नहीं जा सकता।

‘पयस्विनी’ हमें सिखाती है कि व्यक्ति, समूह, संस्था और साहित्यिक समाज का मूल्यांकन करते समय भावुक न हों। न कठोर भाषा सुनकर मोहित हों, न मधुर भाषा सुनकर आँखें मूँदकर विश्वास करें। देखें कि व्यवहार में निष्पक्षता है या नहीं। अपने लोगों और दूसरों के लिए कसौटी एक ही है या नहीं।

लाभ और संबंधों के दबाव में सिद्धांत बचा रहता है या नहीं।

आवाज की ऊँचाई ईमानदारी का प्रमाण नहीं है। ईमानदारी का प्रमाण है व्यवहार की निरंतरता, न्याय करने का साहस और अपनी सुविधा के विरुद्ध भी निष्पक्ष बने रहने की शक्ति।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 39**

सामाजिक शक्ति जागेगी, तभी समाज बचेगा

'पयस्विनी' में मण्डलजी के विचार का सार इस रूप में सामने आता है- "मैथिली की प्रगति वास्तव में मिथिला समाज की प्रगति है, मेरी-आपकी प्रगति है, अपने समाज की चेतना, आत्मविश्वास, विचार और लोकजीवन की प्रगति है।" (पृ. 44)

यह पंक्ति मैथिली को केवल भाषा तक सीमित नहीं रखती। वह मैथिली को सामाजिक जीवन, चेतना, आत्मसम्मान और सामूहिक शक्ति से जोड़ती है। मण्डलजी की दृष्टि में भाषा और साहित्य की प्रगति कागज पर दर्ज उपलब्धि मात्र नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ तब है, जब वह समाज के भीतर विचार जगाती है, मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ाती है और लोकजीवन को नई दृष्टि से देखने की शक्ति देती है।

सामंतवादी और ब्राह्मणवादी सोच की सबसे बड़ी चोट समाज की इसी सामूहिक शक्ति पर पड़ती है। वह लोगों को भाषा, जाति, कुल, कर्म, संस्कार और जन्म के नाम पर अलग-अलग खाँचों में रखती है। एक-दूसरे के बीच दूरी बनाती है और समाज की साझा चेतना को कमजोर करती है। जब समाज के लोग अपने-अपने खाँचों में बंद हो जाते हैं, तब उनकी भाषा भी कमजोर दिखाई देने लगती है, साहित्य भी सीमित लगने लगता है और भविष्य भी धुँधला दिखाई देता है।

मण्डलजी इस जड़ता को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए मैथिली का प्रश्न केवल व्याकरण, वर्तनी, पुरस्कार या संस्थाओं का प्रश्न नहीं है। मैथिली का प्रश्न मिथिला समाज का प्रश्न है। मैथिली तब आगे बढ़ेगी, जब मिथिला समाज के साधारण लोगों के अनुभव, श्रम, पीड़ा, सम्मान और सपनों को साहित्य के भीतर स्थान मिलेगा। भाषा तभी जीवित रहेगी, जब वह लोकजीवन की धड़कन से जुड़ी

रहेगी।

भाषा समाज से अलग होकर नहीं जीती। भाषा उसी समाज की साँस से चलती है, जो उसे बोलता है, लिखता है, पढ़ता है और उसमें अपने दुःख-सुख व्यक्त करता है। यदि समाज के भीतर आत्मविश्वास नहीं रहेगा, तो भाषा के लिए की गई घोषणाएँ भी खोखली हो जाएँगी। यदि समाज के भीतर विचार नहीं रहेगा, तो साहित्य केवल शब्दों की सजावट बनकर रह जाएगा। यदि समाज के भीतर सामूहिक शक्ति नहीं जागेगी, तो भाषा और साहित्य दोनों अपना वास्तविक सामाजिक अर्थ खो देंगे।

इसीलिए मैथिली की प्रगति का अर्थ मिथिला समाज के भीतर प्रश्न करने की शक्ति बढ़ाना है। स्वयं को कमतर न मानने का साहस बढ़ाना है। लोकजीवन के अनुभवों को साहित्यिक गरिमा देने वाली दृष्टि विकसित करना है। स्त्री, किसान, मजदूर, पिछड़े-वंचित लोग, गाँव के साधारण मनुष्य और हाशिये की आवाजों को समाज के केंद्र में लाने वाली चेतना को मजबूत करना है। मैथिली की प्रगति तभी सार्थक होगी, जब वह समाज के सभी वर्गों के जीवन, संघर्ष और स्वाभिमान की भाषा बनेगी।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि भाषा तभी बचेगी, जब समाज बचेगा। साहित्य भी तभी बचेगा, जब समाज के भीतर मनुष्य की गरिमा, विचार और आत्मविश्वास बढ़ेंगे। मैथिली की वास्तविक प्रगति उस दिन होगी, जब मिथिला समाज अपनी सामूहिक शक्ति को पहचानेगा और कहेगा- यह भाषा हमारे जीवन की भाषा है, हमारे संघर्ष की भाषा है, हमारे भविष्य की भाषा है।

सामाजिक शक्ति जागेगी, तभी समाज बचेगा। और समाज बचेगा, तभी भाषा, साहित्य, संस्कृति और भविष्य का मार्ग भी सुरक्षित रहेगा।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 40

संघर्ष एक व्यक्ति आरंभ कर सकता है, व्यवस्था सबके प्रयास से बदलती है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जहाँ व्यवस्था बदलने का प्रश्न है, वह न एक दिन में होगा और न किसी एक व्यक्ति के बूते। इससे सबका कल्याण होगा, इसलिए परिवर्तन का दायित्व भी सबको उठाना

होगा। इसलिए सबको कहता हूँ- जागिए, उठिए, खड़े होइए और आगे बढ़िए।" (पृ. 83)

यह पंक्ति मण्डलजी की परिवर्तन-दृष्टि का सार है। वे व्यवस्था-परिवर्तन को क्षणिक उत्तेजना या मंचीय आह्वान तक सीमित नहीं मानते। उनके लिए व्यवस्था बदलना एक दीर्घ, कठिन और सामूहिक प्रक्रिया है। परिवर्तन न एक दिन में होता है और न किसी एक व्यक्ति के प्रयास से पूरा समाज बदलता है।

व्यवस्था केवल शासन के नियमों या सरकारी कार्यालयों में नहीं रहती। वह लोगों की सोच, आदत, संबंध, संस्था, भाषा और रोजमर्रा के व्यवहार में भी बसी रहती है। अवसरों के बँटवारे, मान-अपमान की पद्धति, जातीय दूरी, लैंगिक भेद और शक्ति की असमानता में भी व्यवस्था का रूप दिखाई देता है। इसलिए उसके परिवर्तन के लिए केवल सत्ता नहीं, समाज की चेतना भी बदलनी पड़ती है।

एक व्यक्ति प्रश्न उठा सकता है, परिवर्तन का मार्ग दिखा सकता है और संघर्ष का आरंभ भी कर सकता है। किंतु व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन तभी संभव है, जब समाज के लोग सक्रिय रूप से भाग लें। कोई लिखकर विचार जगाए, कोई पढ़कर समझ बढ़ाए, कोई लोगों को जोड़े, कोई अन्याय के विरोध में बोले, कोई चुप्पी तोड़े, कोई भाषा की सेवा करे और कोई संस्थाओं को मजबूत बनाए। सभी अपने-अपने हिस्से का दायित्व निभाएँगे, तभी व्यक्तिगत प्रयास सामूहिक परिवर्तन की शक्ति बनेगा।

मण्डलजी का "जागिए, उठकर खड़े होइए। आगे बढ़िए।" केवल तात्कालिक उत्साह जगाने वाली पुकार नहीं, परिवर्तन की क्रमबद्ध कर्म-पद्धति है। जागने का अर्थ है समस्या और अपनी स्थिति की स्पष्ट पहचान करना। उठने का अर्थ है निष्क्रियता छोड़कर परिवर्तन की दिशा पकड़ना। खड़े होने का अर्थ है अपना दायित्व स्वीकार करते हुए दृढ़ता से पक्ष लेना। आगे बढ़ने का अर्थ है विचार और संकल्प को वास्तविक कर्म में उतारना।

आज के समय में व्यवस्था बदलने की बात बहुत होती है, किंतु अपनी भूमिका स्वीकार करने वाले लोग कम दिखाई देते हैं। कोई कहता है कि संस्था बदलनी चाहिए, किंतु संस्था के लिए श्रम नहीं देता। कोई कहता है कि मैथिली आगे बढ़नी चाहिए, किंतु मैथिली पढ़ने-लिखने में संकोच करता है। कोई समाज

में सद्भावना चाहता है, किंतु अपने व्यवहार में दूरी बनाए रखता है। मण्डलजी की पंक्ति इसी दोहरेपन पर सीधा प्रश्न उठाती है।

सबका कल्याण तभी संभव है, जब सबकी भागीदारी हो। यदि परिवर्तन का लाभ कुछ लोगों तक सीमित रहे, तो वह सामाजिक परिवर्तन नहीं है। यदि भाषा कुछ लोगों की प्रतिष्ठा का साधन मात्र बन जाए, तो वह लोकभाषा के उद्देश्य से दूर हो जाती है। यदि संस्कृति केवल उत्सव और स्मरण तक सीमित रह जाए, किंतु दैनिक व्यवहार में उसके मूल्य जीवित न रहें, तो वह प्राणहीन हो जाती है।

व्यवस्था बदलना संघर्ष के साथ धैर्य भी माँगता है। प्रेम के बिना संघर्ष कठोर हो सकता है और संघर्ष के बिना प्रेम निष्क्रियता बन सकता है। सद्भावना के बिना संगठन टिकता नहीं और न्याय के बिना सद्भावना खोखली रह जाती है। मण्डलजी की परिवर्तन-दृष्टि न्याय, प्रेम, संगठन, धैर्य और कर्म को एक सूत्र में जोड़ती है।

परिवर्तन की प्रतीक्षा करने से परिवर्तन नहीं आता। जो जहाँ है, वहीं से आरंभ करे। गाँव में हैं तो गाँव के लोगों को जोड़ें। विद्यालय में हैं तो बच्चों को भाषा, समाज और मानवीय मूल्यों से जोड़ें। लेखन में हैं तो लोक का सच्चा जीवन लिखें। पाठक हैं तो पढ़ें, विचार करें और संवाद बढ़ाएँ। छोटे-छोटे कर्मों की निरंतरता व्यवस्था की जड़ों को हिलाती है।

व्यवस्था तब बदलेगी, जब सब खड़े होंगे। एक दीप अँधेरे को चुनौती देता है, किंतु अनेक दीप मिलकर भोर की आहट बनते हैं। मण्डलजी का आह्वान इसी सामूहिक भोर की पुकार है: जागो, उठकर खड़े होओ। आगे बढ़ो।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 41

गाँव समाज को बनाता है, समाज गाँव का रूप गढ़ता है

मण्डलजी लिखते हैं- “अब तक मेरा जीवन गाँव की धरती से जुड़ा रहा है। इसलिए मुझे इस बात पर विश्वास है कि गाँव में मेरे जैसे असंख्य लोग जीते हैं, जिनका जीवन, समस्याएँ, संघर्ष और अनुभव एक-दूसरे से जुड़े हैं। गाँव समाज का निर्माण करता है और समाज भी गाँव को निरंतर बनाता-बदलता रहता है।” (पृ. 99)

यह पंक्ति गाँव और समाज के संबंध को एक-दूसरे पर निर्भर जीवंत प्रक्रिया के रूप में देखती है। गाँव केवल घर, खेत, रास्ते और पोखरों का समूह नहीं है। वह श्रम, संबंध, भाषा, स्मृति, ज्ञान, संस्कार, संघर्ष और साझा जीवन-पद्धति के निर्माण का स्थल है। ऐसे गाँवों का जीवन मिलकर व्यापक समाज का रूप ग्रहण करता है।

गाँव समाज को केवल अन्न नहीं देता, मनुष्य और जीवन-दृष्टि भी देता है। खेत का श्रम, परिवार की पहली शिक्षा, सहयोग की भावना, प्रकृति से संबंध, लोकभाषा की सहजता और सामूहिक जीवन के आरंभिक अनुभव गाँव में ही विकसित होते हैं। लोक-कंठ में जीवित भाषा, स्मृति में सुरक्षित लोकज्ञान और व्यवहार में जीवित सहयोग की संस्कृति समाज को गाँव से मिलती है। इसलिए गाँव की स्थिति समाज के वर्तमान के साथ उसके भविष्य को भी प्रभावित करती है।

किंतु यह संबंध एकतरफा नहीं है। समाज भी गाँव का रूप गढ़ता है। समाज के विचार, शिक्षा-व्यवस्था, आर्थिक नीतियाँ, तकनीक, सांस्कृतिक दृष्टि और सार्वजनिक संस्थाएँ गाँव के जीवन को बदलती हैं। जिस समाज में श्रम का सम्मान होगा, शिक्षा सभी के लिए सुलभ होगी, स्वास्थ्य की उचित सुविधाएँ होंगी और लोगों के बीच सहयोग की भावना होगी, उस समाज के गाँव भी जीवंत बनेंगे। यदि समाज गाँव को केवल अन्न, कच्चे माल और श्रमिकों का स्रोत समझेगा, तो गाँव धीरे-धीरे अपनी सामर्थ्य खोता जाएगा।

“गाँव में मेरे जैसे असंख्य लोग जीते हैं” कथन विशेष ध्यान माँगता है। यह उस धारणा पर प्रश्न उठाता है कि बौद्धिक, साहित्यिक या रचनात्मक जीवन केवल बड़े शहरों में ही संभव है। मण्डलजी का जीवन और साहित्य यह प्रमाणित करते हैं कि गाँव में रहते हुए भी व्यापक सामाजिक दृष्टि विकसित की जा सकती है। गाँव रचनात्मक जीवन की बाधा नहीं, बल्कि सजग दृष्टि रखने वाले व्यक्ति के लिए अनुभव, संघर्ष, श्रम और संवेदना की अत्यंत समृद्ध भूमि है।

गाँव से जुड़े रहने का अर्थ उसका भावुक गुणगान करना नहीं है। गाँव के प्रति प्रेम उसकी समस्याओं को न देखने का बहाना नहीं बनना चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, कृषि, जल-संरक्षण, स्वच्छता, पुस्तकालय, सांस्कृतिक गतिविधियों और मानवीय संबंधों के क्षेत्र में सुधार करना गाँव के प्रति वास्तविक

प्रेम है। जहाँ कमी है, वहाँ सुधार का प्रयास हो। जिन परंपराओं में लोकहित है, उन्हें सुरक्षित रखा जाए और जिन व्यवहारों से मनुष्य की गरिमा तथा सामाजिक सद्भाव कमजोर होता है, उन्हें बदलने का साहस किया जाए।

गाँव का निर्माण केवल सरकार या किसी संस्था की जिम्मेदारी नहीं है। किसान खेत के माध्यम से, शिक्षक विद्यालय के माध्यम से, स्त्री परिवार और सामाजिक जीवन के माध्यम से, युवा नए ज्ञान और तकनीक के माध्यम से, कलाकार लोकस्मृति के माध्यम से और साहित्यकार शब्द के माध्यम से गाँव को बनाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कार्य गाँव के सामूहिक रूप में कुछ जोड़ता या कुछ घटाता है। इसलिए गाँव का विकास केवल सुविधाओं का प्रश्न नहीं, सामाजिक सहभागिता का प्रश्न भी है।

गाँव छोड़कर बाहर रहने वाले लोगों की जिम्मेदारी भी समाप्त नहीं हो जाती। वे अपने ज्ञान, अनुभव और साधनों से गाँव की शिक्षा, पुस्तकालय, कृषि, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक जीवन में सहयोग दे सकते हैं। गाँव के प्रति प्रेम का अर्थ केवल पर्व-त्योहार पर घर आना या स्मृतियों में उसकी प्रशंसा करना नहीं है। उसकी वर्तमान समस्याओं को समझना और उनके समाधान में अपनी योग्यता के अनुसार भाग लेना भी आवश्यक है।

साहित्य गाँव और समाज के इस पारस्परिक संबंध को समझने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। गाँव की धरती से जुड़ा रचनाकार जब देखे-भोगे जीवन को शब्द देता है, तब गाँव समाज के सामने अपने वास्तविक रूप में आता है। किंतु केवल गाँव में जन्म लेने से रचना प्रामाणिक नहीं हो जाती। जनसामान्य के श्रम, सुख-दुःख, संबंध, असमानता और बदलती आकांक्षाओं को ध्यान से समझना आवश्यक है। धरती से जुड़ाव तभी साहित्यिक शक्ति बनता है, जब उसके साथ संवेदना, विचार और सामाजिक दायित्व भी जुड़े हों।

गाँव समाज को बनाता है और समाज गाँव का रूप गढ़ता है। दोनों का भविष्य एक-दूसरे से अलग नहीं है। अच्छा समाज चाहिए, तो गाँव के जीवन को सम्मान, सुविधा और सृजनात्मक अवसर देना आवश्यक है। अच्छा गाँव चाहिए, तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने ज्ञान, श्रम और दायित्व के साथ उसके निर्माण में सहभागी होना पड़ेगा।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 42**

अनुभव से कटकर भावना जीवन से दूर हो जाती है

मण्डलजी लिखते हैं- "वैदिक संस्कृत की शैली अनुभवात्मक है, जबकि लौकिक संस्कृत की शैली अधिक भावात्मक है। भावात्मक दिशा कल्पनाशील होती गई। जैसे-जैसे भावात्मक दिशा मजबूत होती गई, वैसे-वैसे साहित्य जीवन से दूर होता गया।" (पृ. 130)

यह पंक्ति मण्डलजी की साहित्य-दृष्टि और भाषा-दृष्टि, दोनों को गहराई से खोलती है। वे अनुभव और भावना के बीच के अंतर को पहचानते हैं। भावना साहित्य के लिए आवश्यक है, किंतु यदि भावना जीवन के अनुभव से कट जाए, तो साहित्य धीरे-धीरे जीवन से दूर होने लगता है। अनुभव धरती देता है, भावना उड़ान; धरती छूट जाए, तो उड़ान दिशाहीन हो सकती है।

मण्डलजी वैदिक संस्कृत की शैली को अनुभवात्मक कहते हैं। उसमें जीवन के कार्य, प्रकृति से संबंध, श्रम, सामूहिकता, ज्ञान और व्यवहार की धरती है। लौकिक संस्कृत की भावात्मक दिशा क्रमशः अधिक कल्पनाशील होती गई और कल्पना यदि अनुभव के आधार से दूर हो जाए, तो साहित्य समाज की जीवन-पद्धति से कट सकता है। यह बात केवल संस्कृत के इतिहास तक सीमित नहीं, प्रत्येक साहित्य के लिए एक चेतावनी है।

साहित्य में भाव चाहिए। करुणा चाहिए, प्रेम चाहिए, सौंदर्य चाहिए और कल्पना भी चाहिए। किंतु ये सब जीवन के भीतर से उठे होने चाहिए। यदि करुणा लोगों के वास्तविक दुःख से नहीं जुड़ी, तो वह सजावटी बन जाती है। यदि प्रेम सामाजिक संबंधों से नहीं जुड़ा, तो वह भावुकता बनकर रह जाता है। यदि सौंदर्य श्रम, प्रकृति और मनुष्य के जीवन से नहीं जुड़ा, तो वह चकाचौंध में बदल सकता है।

जीवन से दूर हुआ साहित्य पाठक को प्रभावित तो कर सकता है, किंतु उसे भीतर तक बदल नहीं सकता। वह भाषा में चमक दे सकता है, पर जीवन को दिशा नहीं। वह कल्पना दे सकता है, पर समाज की उलझनें नहीं खोल सकता। इसी प्रकार वह भाव तो देगा, किंतु व्यवस्था पर प्रश्न नहीं उठाएगा। मण्डलजी का आग्रह है कि साहित्य जीवन-पद्धति से जुड़ा रहे, तभी वह समाज की उपयोगी शक्ति बन सकेगा।

इस बात का संबंध "शब्द जीवन का नक्शा है" जैसे विचार से भी जुड़ता है। यदि शब्द जीवन का नक्शा है, तो साहित्य जीवन की यात्रा होना चाहिए। शब्द के भीतर जो अनुभव छिपा है, साहित्य उसे खोले। भाषा केवल भाव की सवारी न हो, अनुभव का घर भी हो। जब भाषा और साहित्य, दोनों जीवन से जुड़ते हैं, तभी समाज उन्हें अपना मानता है।

आज के समय में भावात्मकता बहुत तेजी से फैलती है। सुंदर वाक्य, सजी हुई पंक्तियाँ, भावुक पोस्ट और प्रेरक उद्धरण देखते-देखते लोगों तक पहुँच जाते हैं। किंतु प्रश्न यह है कि क्या वे जीवन से जुड़े हैं? क्या वे समाज के वास्तविक प्रश्न खोलते हैं? क्या वे पाठक को सोचने के लिए बाध्य करते हैं या केवल क्षणिक भाव पैदा करते हैं? मण्डलजी की पंक्ति इसी सूक्ष्म अंतर को समझाती है।

अनुभवहीन भावना कई बार समाज के वास्तविक दुःख को ढँक देती है। वह प्रेम की बात करती है, किंतु अन्याय की जड़ की ओर दृष्टि नहीं ले जाती। वह सद्भावना की बात करती है, किंतु विषमता कैसे बनी है, यह नहीं पूछती। वह संस्कृति बचाने की बात करती है, किंतु संस्कृति को ढोने वाले लोगों का जीवन नहीं देखती। अनुभव साहित्य को ये प्रश्न पूछने का साहस देता है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि साहित्य भावपूर्ण हो, किंतु जीवन से कटकर नहीं। साहित्य कल्पनाशील हो, किंतु अनुभव-विहीन नहीं। साहित्य सुंदर हो, किंतु समाज के सत्य से आँखें न फेरे। मण्डलजी का साहित्य इसी संतुलन का साहित्य है: भाव में करुणा, भाषा में जीवन, दृष्टि में समाज और विचार में स्पष्टता।

अनुभव से कटकर भावना जीवन से दूर हो जाती है। अनुभव से जुड़ी भावना साहित्य को लोकजीवन में उतारती है, उसे गरिमा देती है और समाज के भीतर प्रकाश की संभावना जगाती है।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 43

व्यवस्था निश्चित नहीं, तो अराजकता निश्चित है

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "समाज में जब तक निश्चित व्यवस्था बनाकर नहीं चला जाएगा, तब तक अराजकता की स्थिति बनने की संभावना रहेगी।" (पृ. 54)

यह पंक्ति समाज की आंतरिक उलझन को सरल, किंतु गहरे ढंग से खोलती है। मण्डलजी अराजकता को केवल शोर, मारपीट, झगड़े या बाहरी अव्यवस्था तक सीमित नहीं रखते। उनके लिए अराजकता वहाँ से जन्म लेती है, जहाँ व्यवस्था निश्चित नहीं होती, नियम स्पष्ट नहीं रहते और सामाजिक व्यवहार की पद्धति लोगों की सुविधा के अनुसार बदलती रहती है।

समाज में व्यवस्था का अर्थ केवल कागज पर लिखे नियम नहीं हैं। इसका अर्थ है कि सबके लिए न्याय और व्यवहार का आधार स्पष्ट हो। छोटे-बड़े, अपने-पराए, निकट-दूर और समर्थ-असमर्थ, सबके लिए कसौटी समान हो। यदि एक व्यक्ति के लिए नियम कठोर और दूसरे के लिए नरम हों, एक समूह के लिए सम्मान और दूसरे के लिए उपेक्षा, एक घर के लिए छूट और दूसरे के लिए दंड हो, तो समाज बाहर से शांत दिखाई देते हुए भी भीतर से अराजक हो जाता है।

अराजकता कई बार शोर से नहीं, चुप्पी से बनती है। कोई अन्याय देखकर भी नहीं बोलता। कोई पक्षपात समझकर भी चुप रहता है। कोई नियम तोड़ता है, किंतु संबंधों के कारण उसे बचा लिया जाता है। कोई नियम का पालन करता है, किंतु उसी की निष्ठा पर संदेह किया जाता है। तब धीरे-धीरे लोग समझने लगते हैं कि न्याय नहीं, पहुँच काम करती है; मूल्य नहीं, समूह काम करता है; सत्य नहीं, सुविधा काम करती है। यहीं अराजकता का बीज मजबूत होने लगता है।

मण्डलजी समाज के प्रबंधन, जाति-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था के प्रसंग में यह बात कहते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि व्यावहारिक है। समाज में विभिन्न जातियों के बीच संबंध, आर्थिक लेन-देन, धार्मिक दूरी, देवी-देवताओं का मान-अपमान, छुआछूत और सम्मान-असम्मान के प्रश्न यदि स्पष्ट और न्यायपूर्ण व्यवस्था से नहीं चलेंगे, तो प्रत्येक समूह अपनी सुविधा के अनुसार नियम बनाएगा और उसका भार दूसरे के जीवन पर डालेगा। अराजकता इसी मनमानी से आकार लेती है।

ऐसे समाज में नैतिकता भी स्थिर नहीं रहती। वह मनगढ़ंत व्याख्या बन जाती है। जिसके हाथ में आवाज, पद, संपत्ति, जाति, समूह या मंच की शक्ति है, वह नैतिकता का अर्थ अपनी सुविधा के अनुसार तय करने लगता है। कमजोर व्यक्ति की चूक को समाज का बड़ा दोष बना दिया जाता है, जबकि समर्थ व्यक्ति के दोष को परिस्थिति कहकर छोड़ दिया जाता है। ऐसा व्यवहार न्याय नहीं,

पक्षपातपूर्ण कसौटी है। यह कसौटी सत्य या मूल्य के आधार पर नहीं, व्यक्ति और समूह की शक्ति के अनुसार बदलती रहती है; और इसी बदलती कसौटी से अराजकता चुपचाप मजबूत होती जाती है।

व्यवस्था निश्चित करने का अर्थ मनुष्य को मशीन बना देना नहीं है। इसका अर्थ जीवन की विविधता को स्वीकार करते हुए न्यायपूर्ण आधार निर्धारित करना है। समाज रहेगा, तो मतभेद, गलती और बहस भी रहेंगी। किंतु यदि आधार स्पष्ट है, तो मतभेद समाज को तोड़ते नहीं। यदि आधार ही अस्पष्ट है, तो छोटी-सी बात भी गुट, रोष, अपमान और वैमनस्य में बदल जाती है।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि समाज की अराजक स्थिति को केवल लोगों का दोष कहकर टाला नहीं जा सकता। उसके पीछे व्यवस्था की असमानता, व्यवहार की अस्पष्टता और न्याय की बदलती कसौटियाँ होती हैं। जहाँ नीति सबके लिए समान नहीं होती, वहाँ समाज के भीतर विश्वास नहीं बनता। विश्वास के बिना समाज लोगों का संगठित समुदाय नहीं, भीड़ बनकर रह जाता है।

व्यवस्था निश्चित नहीं, तो अराजकता निश्चित है। समाज को बचाने का अर्थ नियमों को मनुष्य-विरोधी नहीं, न्यायपूर्ण बनाना; व्यवहार को पक्षपात से मुक्त करना और व्यक्तिगत सुविधाओं से ऊपर उठकर सामूहिक जीवन का स्पष्ट आधार तैयार करना है।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 44

नाम और झंडे से विचार नहीं पहचाना जाता, जीवन बताता है कि व्यक्ति किसके पक्ष में खड़ा है

मण्डलजी के जीवनी-संदर्भ में दर्ज है- "जगदीश प्रसाद मण्डलजी भी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गए थे।" (पृ. 45)

यह पंक्ति मण्डलजी के राजनीतिक परिचय का एक तथ्य सामने रखती है। 1967 ईस्वी में कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनना उनकी वैचारिक यात्रा का महत्त्वपूर्ण मोड़ था। किंतु किसी विचारधारा का वास्तविक परिचय केवल सदस्यता, नाम या झंडे से नहीं होता। उसकी वास्तविक परीक्षा व्यक्ति के जीवन में होती है। वह किसके पक्ष में खड़ा है, किसकी पीड़ा समझता है, किसके श्रम

का सम्मान करता है और अन्याय के विरुद्ध कितनी दूर तक जाता है, इसी से उसके विचार की प्रामाणिकता पहचानी जाती है।

वामपंथ और साम्यवाद का एक ही अर्थ में उपयोग करना उचित नहीं। वामपंथ समानता, सामाजिक न्याय और शोषण के विरोध से जुड़ी व्यापक विचार-परंपरा है। साम्यवाद उसी परंपरा की एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक धारा है। उसका मूल आग्रह है कि जमीन, कारखाने, पूँजी और उत्पादन के प्रमुख साधन कुछ लोगों के लाभ के लिए नहीं, समाज के साझा हित के लिए संचालित हों। श्रम के फल पर श्रमजीवियों का न्यायपूर्ण अधिकार हो और मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण समाप्त हो।

साम्यवाद का अर्थ सभी मनुष्यों को एक ही रंग में ढाल देना नहीं है। सबकी रुचि, क्षमता, स्वभाव और जीवन-पद्धति भिन्न रहेगी। समानता का अर्थ है कि जन्म, जाति, धन या सामाजिक पद के आधार पर किसी की गरिमा को छोटा न माना जाए। किसी के श्रम पर दूसरे का अनुचित अधिकार न हो और जीवन के मूल अवसर कुछ लोगों तक सीमित न रहें।

पार्टी की सदस्यता इस विचार के प्रति व्यक्ति की प्रतिबद्धता का संकेत दे सकती है, किंतु वह अपने-आप में अंतिम प्रमाण नहीं है। कोई साम्यवाद का नाम ले सकता है, भाषण दे सकता है और झंडा उठा सकता है, किंतु अपने व्यवहार में श्रम का अपमान, जातीय श्रेष्ठता और सुविधाओं की असमानता बनाए रख सकता है। तब उसके कथन और जीवन के बीच की दूरी स्पष्ट हो जाती है।

मण्डलजी के जीवन में विचार का प्रमाण पार्टी-सदस्यता तक सीमित नहीं है। किसान परिवार का संघर्ष, खेती और बटाईदारी की वास्तविकता, जमीन की उलझनें, किसान और खेतिहर मजदूरों के प्रश्न, पश्चिमी कोसी नहर का आंदोलन, मुकदमे, जेल-यात्रा और 'जनशक्ति' पत्रिका के संवाददाता के रूप में सामाजिक सक्रियता उनके जीवन का हिस्सा रही है। वे विचार को दूर से देखते मात्र नहीं रहे। संघर्ष के बीच उतरे, उसकी कठिनाइयाँ भोगीं और बाद में उन्हीं अनुभवों को अपने साहित्य का आधार बनाया।

यह समझना भी आवश्यक है कि इतिहास में साम्यवाद के नाम पर किए गए प्रत्येक कार्य को साम्यवादी मूल्यों की अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता। कोई पार्टी, नेता या सरकार आलोचना और जनता के प्रश्नों से ऊपर नहीं होती।

साम्यवाद का मूल्यांकन केवल उसके नाम, नारे या सैद्धांतिक घोषणाओं के आधार पर नहीं, बल्कि उसके मूल मानवीय उद्देश्य और समाज पर पड़े व्यावहारिक परिणामों के आधार पर होना चाहिए। समानता, सामाजिक न्याय, जनता की स्वतंत्रता, मानवीय गरिमा और निर्णय-प्रक्रिया में जनसहभागिता कितनी सुरक्षित है, यही उसकी वास्तविक कसौटी है। जहाँ सत्ता असहमत आवाजों को दबाती है, लोगों के अधिकार सीमित करती है और निर्णय की शक्ति कुछ हाथों में केंद्रित करती है, वहाँ व्यवस्था को साम्यवादी कह देने से वह साम्यवादी मूल्यों की प्रतिनिधि नहीं हो जाती।

मण्डलजी का जीवन संकेत देता है कि विचारधारा केवल घोषित पहचान नहीं, जीवन में पक्ष चुनने की जिम्मेदारी है। किसान के खेत तक पानी पहुँचे, खेतिहर मजदूर को उसके श्रम का उचित मूल्य मिले, जाति के कारण किसी का अपमान न हो, भाषा और क्षेत्र के साथ न्याय हो तथा समाज की संपत्ति कुछ हाथों में बंद न रहे, इन्हीं जीवंत प्रश्नों के बीच साम्यवाद का वास्तविक अर्थ खोजा जा सकता है।

व्यक्ति अपने को क्या कहता है, यह उसके परिचय की पहली सूचना मात्र है। वह जीवन भर किसके साथ चलता है और किसके अधिकार के लिए खड़ा रहता है, यही उसकी विचारधारा का वास्तविक परिचय देता है।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 45

जमीन, पानी और भाषा के प्रश्न समानता की वास्तविक कसौटी हैं

मण्डलजी के जीवनी-संदर्भ में लिखा है- “पश्चिमी कोसी नहर, मैथिली भाषा, जमीन का सवाल...” (पृ. 96)

ये तीनों विषय अलग-अलग दिखाई देते हैं। पश्चिमी कोसी नहर विकास और सिंचाई का प्रश्न है, जमीन आर्थिक अधिकार का प्रश्न और मैथिली भाषा सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न। किंतु गहराई से देखें, तो तीनों मनुष्य के जीवन, श्रम, सम्मान और सामाजिक हिस्सेदारी से जुड़े हैं।

जमीन केवल मिट्टी का टुकड़ा नहीं है। ग्रामीण समाज में जमीन अन्न, रोजगार, सुरक्षा, आत्मसम्मान और सामाजिक शक्ति का आधार है। जो खेती करता है, किंतु उपज पर उसका उचित अधिकार नहीं रहता, उसका श्रम धीरे-

धीरे दूसरे की संपत्ति बनता जाता है। बटाईदार खेत जोते, फसल उपजाए, हानि-लाभ का भार उठाए और अंत में उसका जीवन अभाव से भरा रहे, यह केवल गरीबी नहीं, आर्थिक व्यवस्था का अन्याय है।

पश्चिमी कोसी नहर का प्रश्न भी केवल नहर बनाने की माँग नहीं था। पानी के अभाव में खेती अनिश्चित रहती है। किसान बीज, श्रम और पूँजी लगाता है, किंतु सिंचाई के अभाव में फसल नष्ट हो जाए, तो उसकी मेहनत मौसम की अनिश्चितता के अधीन हो जाती है। सार्वजनिक सिंचाई-व्यवस्था किसान के श्रम को स्थिरता देती है, उत्पादन बढ़ाती है और क्षेत्रीय विषमता घटाती है। इसलिए सिंचाई सामाजिक न्याय से जुड़ा प्रश्न भी है।

मैथिली भाषा का प्रश्न इसी क्रम में सांस्कृतिक अधिकार का प्रश्न बनता है। भाषा केवल भाव व्यक्त करने का माध्यम नहीं है। वह शिक्षा, प्रशासन, साहित्य और सामाजिक स्मृति को लोगों तक पहुँचाने के साथ-साथ सार्वजनिक जीवन में सहभागिता का आधार भी होती है। जिस समाज की भाषा को हीन माना जाता है, उस समाज के अनुभव भी धीरे-धीरे सार्वजनिक जीवन से बाहर धकेले जाने लगते हैं। भाषा का सम्मान मनुष्य की आवाज और सामाजिक उपस्थिति का सम्मान है।

साम्यवाद की मूल चिंता इन्हीं जीवंत प्रश्नों में आकार ग्रहण करती है। समाज का उत्पादन कौन करता है? उस उत्पादन का लाभ किसे मिलता है? सार्वजनिक साधन किसके जीवन को सुधारते हैं? नीति-निर्माण की प्रक्रिया में किसकी आवाज सुनी जाती है? जब तक इन प्रश्नों के उत्तर कुछ शक्तिशाली लोगों के पक्ष में रहेंगे, तब तक समानता जीवन का सत्य नहीं, केवल भाषण का शब्द बनी रहेगी।

मण्डलजी का राजनीतिक जीवन जमीन से जुड़े इन्हीं जीवंत प्रश्नों के बीच विकसित हुआ। वे किसान के जीवन को बाहर से देखने वाले नहीं, उसके संघर्ष के सहभागी रहे। खेती-बाड़ी, अभाव-कष्ट, शोषण-दोहन, बटाईदारी, ग्रामीण विषमता और जमीन के अधिकार के लिए संघर्ष उनके देखे-भोगे अनुभव हैं। इसलिए उनकी साम्यवादी चेतना केवल पुस्तकों के अध्ययन से नहीं, अनुभवों से गढ़ी हुई जीवन-दृष्टि है।

किसी को साम्यवादी मानने की कसौटी यह नहीं कि वह कितनी बार

साम्यवाद का नाम लेता है। कसौटी यह है कि वह जमीन के न्यायपूर्ण संबंधों के पक्ष में है या नहीं, श्रम का मूल्य स्वीकार करता है या नहीं, सार्वजनिक साधनों को सबकी पहुँच में लाने की बात करता है या नहीं और भाषा तथा संस्कृति के समान सम्मान के पक्ष में खड़ा है या नहीं।

समानता दया नहीं, अधिकार का प्रश्न है। किसान तक सिंचाई का पानी पहुँचाना कृपा नहीं, कृषि-व्यवस्था का दायित्व है। खेतिहर मजदूर को उचित मजदूरी देना दान नहीं, उसके श्रम का मूल्य है। लोकभाषा को सम्मान देना उदारता नहीं, लोकतांत्रिक सहभागिता का आधार है। साम्यवाद दया और अधिकार के इसी अंतर को स्पष्ट करता है।

जमीन, पानी और भाषा को जोड़ने वाला सूत्र मनुष्य की गरिमा है। जिस विचार में श्रम का सम्मान, साधनों का न्यायपूर्ण उपयोग और प्रत्येक समुदाय की आवाज के लिए स्थान है, वही विचार समानता की वास्तविक जमीन तैयार करता है। नाम से अधिक महत्त्वपूर्ण है उस जमीन पर खड़ा जीवन।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 46

स्वतंत्रता उपहार नहीं, संघर्ष से अर्जित अधिकार है

‘पयस्विनी’ में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- “स्वतंत्रता को दोस्तों के आपसी लेन-देन की तरह मत समझिए। अंग्रेज शासकों से मुकाबला हुआ और उस मुकाबले में पराजित होकर अंग्रेज यहाँ से भागे। यह मुकाबला बातचीत या विचार-विमर्श से नहीं, बल्कि शक्ति के बल पर तय हुआ।” (पृ. 29)

यह पंक्ति स्वतंत्रता की सहज और भावुक व्याख्या से हमें बाहर निकालती है। मण्डलजी सत्ता-हस्तांतरण की शिष्ट कथा पर भरोसा नहीं करते। उनकी दृष्टि में अंग्रेजों का प्रस्थान उनकी उदारता का फल नहीं था। भारतीय जनता के लंबे संघर्ष, बलिदान और प्रतिरोध ने औपनिवेशिक शासन को यहाँ से हटने के लिए विवश किया। इसलिए स्वतंत्रता किसी मित्रतापूर्ण लेन-देन में मिली वस्तु नहीं, जनशक्ति से अर्जित अधिकार है।

इतिहास में विजय का क्षण दिखाई देता है, किंतु उस विजय तक पहुँचने की पीड़ा प्रायः दृष्टि से ओझल हो जाती है। स्वतंत्रता के पीछे जेल का अँधेरा, लाठियों की चोट, गोलियों का भय, फाँसी का फंदा, भूख, विस्थापन और

असंख्य परिवारों की टूटन है। किसी ने अपने प्राण दिए, किसी ने घर-परिवार छोड़ा, किसी ने संपत्ति खोई, तो किसी ने जीवन भर यातना सहते हुए इस संसार से विदा ली। इस संघर्ष को भूलकर केवल उत्सव मनाना स्वतंत्रता का आधा अर्थ समझना होगा।

मण्डलजी के कथन की विशेषता यह है कि वे स्वतंत्रता को इतिहास की कोई बीती हुई घटना बनकर नहीं रहने देते। वे उसे वर्तमान के उत्तरदायित्व में बदल देते हैं। संघर्ष से अर्जित स्वतंत्रता की रक्षा भी सजगता, साहस और जनसहभागिता से होगी। बलिदान से बनी व्यवस्था आलस्य और उदासीनता से सुरक्षित नहीं रह सकती।

स्वतंत्रता केवल झंडा फहराना, राष्ट्रगीत गाना या भाषण देना नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ है निर्भय होकर अपना विचार रखना, न्यायपूर्ण व्यवस्था बनाना, श्रम को गरिमा देना और प्रत्येक मनुष्य का सम्मान सुरक्षित रखना। स्वतंत्रता का अर्थ अपनी भाषा बोलने, पढ़ने और लिखने का अधिकार है। अपनी संस्कृति से जुड़े रहने का अधिकार है। समाज के हाशिये पर पड़े लोगों को अवसर और न्याय देने की प्रतिबद्धता है।

यदि समाज के कुछ वर्ग सम्मान से वंचित हैं, यदि कमजोर लोग भय में जीते हैं, यदि भाषा अपने ही लोगों के दैनिक जीवन से कट रही है, यदि संस्कृति किसी की प्रतिष्ठा का साधन और किसी की उपेक्षा का कारण बन रही है, तो स्वतंत्रता का सामाजिक अर्थ अधूरा है। राजनीतिक स्वतंत्रता तभी पूर्णता ग्रहण करती है, जब उसका प्रकाश लोगों के घर, भाषा, श्रम, विचार और आत्मसम्मान तक पहुँचता है।

स्वतंत्रता केवल राजनीतिक स्थिति नहीं, एक जीवन-मूल्य भी है। उसे घर के व्यवहार, सामाजिक संबंधों, साहित्यिक मूल्यांकन, भाषा-प्रेम और अपने कर्तव्यों के निर्वाह में उतारना पड़ता है। इसी धरातल पर मण्डलजी का विचार भीतर तक प्रभावित करता है। वे स्वतंत्रता की जयकार पर नहीं रुकते। वे पूछते हैं कि क्या स्वतंत्र देश स्वतंत्र मन बना सका? क्या समाज के सभी वर्गों तक न्याय पहुँचा? क्या स्वतंत्र भाषा-साहित्य ने सबके जीवन, पीड़ा और संघर्ष को उचित स्थान दिया?

इन प्रश्नों के उत्तर केवल इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलेंगे। उनके उत्तर

आज के समाज के व्यवहार में मिलेंगे। प्रत्येक पीढ़ी को स्वतंत्रता का मूल्य फिर से समझना और जीवन में अर्जित करना पड़ता है। जो पीढ़ी संघर्ष का इतिहास भूल जाती है, वह अधिकारों को सहज उपलब्ध वस्तु समझने लगती है। जो पीढ़ी बलिदान की स्मृति से जुड़ी रहती है, वह अधिकार के साथ कर्तव्य को भी पहचानती है।

स्वतंत्रता-सेनानियों का स्मरण तभी सार्थक होगा, जब उनका संघर्ष हमारे जीवन-मूल्यों का हिस्सा बने। यदि असंख्य लोगों ने अपने प्राण दिए, तो हमें भी अपनी भाषा, समाज, साहित्य, मानवीय गरिमा और न्यायपूर्ण व्यवहार की रक्षा के लिए सजग रहना चाहिए।

स्वतंत्रता मिली नहीं, लड़कर अर्जित की गई। संघर्ष से अर्जित अधिकार को जीने, बचाने और अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए साहस, सजगता और सामूहिक निष्ठा चाहिए। मण्डलजी की पंक्ति इसी ऐतिहासिक सत्य को वर्तमान की चेतना में बदल देती है।

### ‘पयस्विनी’ से विचार-बिंदु 47

राजधानी के कार्यालय से मिथिला दिखाई नहीं देती

मण्डलजी लिखते हैं- “यदि राज्य का अर्थ हम राजधानी के एक कार्यालय से लेते हैं, तो मिथिला का समाज छूट जाता है। मिथिला की सामाजिक पद्धति वैदिक पद्धति से आगे बढ़ेगी, तभी सर्वांगीण विकास होगा।” (पृ. 150)

यह पंक्ति समाज को देखने की दृष्टि पर अत्यंत गंभीर प्रश्न उठाती है। यदि राज्य राजधानी के कार्यालय तक सीमित हो जाए, तो गाँव का समाज, खेत का जीवन, भाषा की पीड़ा, लोक का संघर्ष और सांस्कृतिक सत्य उसकी दृष्टि से छूट जाते हैं। मण्डलजी कहते हैं कि समाज को ऊपर से नहीं, उसके भीतर उतरकर देखना चाहिए।

राजधानी के कार्यालय में फाइलें दिखाई देती हैं, समाज नहीं। वहाँ योजनाएँ बन सकती हैं, किंतु लोकजीवन की धड़कन सुनाई नहीं देती। वहाँ आँकड़े मिल सकते हैं, किंतु खेत में खड़े किसान की चिंता, परदेश जाने वाले युवक की विवशता, अपनी भाषा छोड़ते बच्चे की चुप्पी और पिछड़े-वंचित समाज के अपमान की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। मिथिला को समझने के लिए उसके

घर-आँगन, पोखर, कुएँ, खेत, बस्तियों, बोलियों, श्रम और संबंधों के बीच उतरना पड़ता है।

मण्डलजी का प्रश्न केवल राजनीति या प्रशासन का नहीं है। यह साहित्य का प्रश्न भी है। यदि साहित्यकार समाज को राजधानी की दृष्टि से देखेगा, तो उसका साहित्य अधूरा रहेगा। यदि लेखक शहर के मंच, संस्था, पद, पुरस्कार या बौद्धिक चर्चाओं से ही मिथिला को समझना चाहेगा, तो उसकी दृष्टि से वास्तविक मिथिला छूट सकती है। मिथिला गाँव में भी है, खेत में भी, स्त्रियों के संस्कार-गीतों में भी, खेतिहर मजदूरों के हाथों में भी और उपेक्षित लोगों की चुप्पी में भी है।

राज्य का कार्यालय समाज का प्रतिनिधि तभी बन सकता है, जब उसकी दृष्टि समाज के जीवन पर हो। उसी प्रकार साहित्य भी समाज का प्रतिनिधि तभी बनेगा, जब उसकी भाषा लोक के अनुभवों से जुड़ी रहेगी। फाइल की भाषा और जीवन की भाषा अलग होती है। फाइल समस्या को शीर्षक बनाती है; जीवन समस्या को भोगता है। साहित्य का कार्य भोगे हुए जीवन को आवाज देना है।

"मिथिला की सामाजिक पद्धति वैदिक पद्धति से आगे बढ़ेगी" कथन में मण्डलजी समाज की मूल संरचना की ओर संकेत करते हैं। वैदिक पद्धति का अर्थ यहाँ जीवन के अनुभव, प्रकृति से संबंध, श्रम की गरिमा, सामूहिकता, ज्ञान और व्यवहार के आधार से है। मिथिला का विकास केवल सड़क, भवन, कार्यालय या योजनाओं से नहीं होगा; समाज की जीवन-पद्धति को समझते हुए आगे बढ़ने से होगा।

सर्वांगीण विकास का अर्थ केवल कुछ क्षेत्रों की प्रगति नहीं, बल्कि जीवन के सभी अंगों का संतुलित विकास है। भाषा बचे, समाज सुरक्षित रहे, लोक-संस्कृति जीवित रहे, खेत और पानी संरक्षित हों, स्त्रियों के अनुभवों को सम्मान मिले, किसान के श्रम को गरिमा प्राप्त हो, शिक्षा लोकजीवन से जुड़ी रहे और साहित्य समाज की सजग आँख बने। यदि विकास की प्रक्रिया में लोक पीछे छूट जाए, तो वह सर्वांगीण विकास नहीं कहलाएगा। और यदि मिथिला के विकास से मिथिला का समाज ही बाहर रह जाए, तो वह विकास केवल नाम भर का विकास रह जाएगा।

आज के समय में यह बात और भी आवश्यक है। कई बार मिथिला पर

चर्चा मिथिला के लोगों से दूर हो जाती है। भाषा पर बात होती है, किंतु भाषा बोलने वाले लोगों की स्थिति पर कम। संस्कृति की चर्चा होती है, किंतु संस्कृति को जीवित रखने वाली स्त्रियों, किसानों, मजदूरों और लोककलाकारों पर कम। विकास पर बात होती है, किंतु गाँव की वास्तविक व्यवस्था पर कम। मण्डलजी की पंक्ति इसी दूरी को तोड़ती है।

मिथिला को देखने के लिए मिथिला के भीतर उतरें। समाज की आवाज सुनें। लोक की भाषा को मान दें। जो किनारे पर है, उसे केंद्र में लाएँ। राजधानी का कार्यालय आवश्यक हो सकता है, किंतु वह समाज का स्थान नहीं ले सकता। कार्यालय दिशा देगा, किंतु समाज जीवन देगा। कार्यालय नीति लिखेगा, किंतु समाज उसका अर्थ तय करेगा।

राजधानी के कार्यालय से मिथिला दिखाई नहीं देती। मिथिला तब दिखाई देती है, जब आँख समाज पर हो, कान लोक की आवाज पर हों और मन मातृभूमि की सभी संतानों के प्रति शुभेच्छा से भरा हो। मण्डलजी की दृष्टि इसी जीवित मिथिला को देखने की दृष्टि है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 48**

मातृभूमि की जयकार नहीं, मातृवत व्यवहार चाहिए

'पयस्विनी' में श्री जगदीश प्रसाद मण्डल लिखते हैं- "जिस प्रकार जन्मभूमि को मातृभूमि मानते हैं, उसी प्रकार उसके प्रति मातृवत व्यवहार भी होना चाहिए।" (पृ. 29)

यह पंक्ति मातृभूमि-प्रेम को भावुक अभिव्यक्ति से निकालकर जीवन के व्यवहार तक ले जाती है। मातृभूमि कहना सहज है, किंतु मातृवत व्यवहार करना कठिन। मण्डलजी मातृभूमि के नाम पर जयकार से आगे बढ़कर उसके प्रति स्नेह, सेवा, संरक्षण, सम्मान और उत्तरदायित्व की माँग करते हैं।

यदि मातृभूमि के लोग अपमानित रहें, तो मातृभूमि का सम्मान अधूरा है। मिथिला का गुणगान करते हुए यदि दबे-कुचले समाज को किनारे कर दिया जाए, तो यह मिथिला-प्रेम नहीं है। भाषा-प्रेम की बात करते हुए यदि लोक की भाषा और लोकबुद्धि को कमतर समझा जाए, तो यह सेवा नहीं है। मातृभूमि वहाँ सम्मानित होती है, जहाँ उसकी सभी संतानें सम्मान के साथ जी सकें।

मण्डलजी की मातृभूमि-दृष्टि हाशिये के समाज के संघर्ष से जुड़ी है। दबे-कुचले लोगों की भाषा, साहित्य, संस्कृति और जीवन-संघर्ष को स्नेहपूर्वक अपनाना मातृवत व्यवहार का अनिवार्य रूप है। मातृभूमि-प्रेम तभी प्रामाणिक बनता है, जब कमजोर की पीड़ा अपनी पीड़ा और उसके अधिकार अपनी जिम्मेदारी लगने लगें।

मातृवत व्यवहार का अर्थ केवल धरती को अपनी कहना नहीं, उसकी रक्षा करना भी है। पानी के स्रोतों को स्वच्छ और सुरक्षित रखना, खेत-पथार तथा प्रकृति का संतुलन बचाना, अपनी भाषा का मान रखना और समाज में टूटे संबंधों को फिर से जोड़ना, ये सभी मातृभूमि के प्रति उत्तरदायी व्यवहार के रूप हैं। लोकजीवन में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अर्जित ज्ञान, अनुभव, परंपरा और जीवन-पद्धति का सम्मान करना भी मातृभूमि की सेवा में आता है।

मातृभूमि की सेवा तभी पूर्ण होती है, जब उसकी सभी संतानों को समान सम्मान मिले। जिन्हें सदियों से दबाया, उपेक्षित और किनारे किया गया, उनकी आवाज ध्यान से सुनना आवश्यक है। उन्हें दया नहीं, सम्मान के साथ खड़े होने का अवसर देना, अपनी बात कहने का अधिकार देना और समाज के विकास में बराबर की भागीदारी सुनिश्चित करना मातृवत व्यवहार की वास्तविक पहचान है।

आज के समय में मातृभूमि शब्द कई बार केवल घोषणा बनकर रह जाता है। किंतु मण्डलजी उसे घोषणा तक सीमित नहीं रहने देते। वे प्रश्न करते हैं कि यदि मातृभूमि सचमुच माँ है, तो उसके घर में अन्याय, विषमता, जातीय दूरी, भाषिक उपेक्षा और मनुष्य का अपमान क्यों?

जो माँ का नाम लेता है, उसे माँ के घर की सभी संतानों की चिंता करनी होगी। मातृभूमि के नाम पर विभाजन करना मातृवत व्यवहार नहीं है। मातृवत व्यवहार वह है, जो लोगों को जोड़े, कमजोर को सहारा दे और मिट्टी के साथ मनुष्य की गरिमा की भी रक्षा करे।

'पयस्विनी' हमें सिखाती है कि मातृभूमि-प्रेम की वास्तविक कसौटी भाषण नहीं, व्यवहार है। जो अपने गाँव, अपनी मिट्टी, अपनी भाषा और अपने लोगों के दुःख-सुख से जुड़ता है, वही मातृभूमि के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है।

मातृभूमि केवल शब्द नहीं, मातृवत व्यवहार है। यह व्यवहार स्नेह से आरंभ होता है, न्याय से मजबूत होता है, सेवा से फलता है और सभी मनुष्यों के सम्मान में पूर्णता प्राप्त करता है।

**'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 49**

मतभेद दृष्टिकोण में है, मैथिली सबकी है

मण्डलजी लिखते हैं- "आज मान लीजिए कि आप भी चाहते हैं कि मैथिली का कल्याण हो और मैं भी चाहता हूँ कि मैथिली का कल्याण हो, तब मतभेद कहाँ है? फिर मतभेद कहाँ है? सारा मतभेद दृष्टिकोण में है।" (पृ. 44)

यह पंक्ति मैथिली-समाज के भीतर की एक गहरी उलझन को सहज ढंग से खोलती है। बहुत-से लोग मैथिली का कल्याण चाहते हैं। कोई भाषा बचाने की चिंता करता है, कोई साहित्य का विस्तार चाहता है, कोई शिक्षा में मैथिली चाहता है, तो कोई मंच, घर-आँगन या डिजिटल माध्यम में मैथिली की उपस्थिति बढ़ाने के पक्ष में है। सबकी इच्छा शुभ हो सकती है, किंतु मतभेद दृष्टिकोण में उत्पन्न हो जाता है।

मण्डलजी की बात यहाँ खेमाबंदी को तोड़ती है। वे मतभेद रखने वाले को शत्रु नहीं मानते; वे मतभेद की जड़ दृष्टिकोण में खोजते हैं। हम मैथिली को किसकी भाषा समझते हैं? केवल विद्वानों की? केवल मंच की? केवल कुछ क्षेत्रों की? केवल परंपरा की? या मैथिली उन सभी लोगों की भाषा है, जो अपना दुःख, हँसी, श्रम, गीत, कथा, प्रेम और अपमान इस भाषा में जीते हैं?

यदि मैथिली सबकी है, तो उसके कल्याण की दृष्टि भी सबके जीवन को समेटने वाली होनी चाहिए। मैथिली को बचाने का अर्थ केवल पुस्तकें छापना, समारोह करना या पुरस्कारों की सूची बनाना नहीं है। मैथिली तब बचेगी, जब वह घर में बोली जाएगी, बच्चों के मुख में रहेगी, किसान की बोली में सम्मान पाएगी, स्त्रियों के गीतों में जीवित रहेगी, मजदूर के अनुभव को शब्द देगी और साहित्य के केंद्र में समाज का संपूर्ण जीवन आएगा।

मतभेद अपने-आप में दोष नहीं है। यदि उसे सुलझाने का प्रयास शुभेच्छा और विवेक के साथ हो, तो वह विचार को स्पष्ट करता है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब मतभेद अहंकार, समूहबंदी या अपमान बन जाए और भाषा-सेवा

किसी की निजी प्रतिष्ठा का साधन बनने लगे। मैथिली सबकी है, इसलिए उसके प्रति प्रेम भी सबका हो, श्रम भी सबका हो और जिम्मेदारी भी सबकी हो।

मण्डलजी की दृष्टि हमें सिखाती है कि भाषा-प्रेम की पहली शर्त दृष्टिकोण की स्पष्टता है। जो मैथिली को लोकजीवन से काटकर देखेगा, उसकी दृष्टि अधूरी रह जाएगी। जो मैथिली को समाज के सभी वर्गों, श्रम, पीड़ा और संभावनाओं से जोड़कर देखेगा, उसकी दृष्टि व्यापक होगी। मैथिली केवल भाषा नहीं, मैथिल समाज की स्मृति, अनुभव और आत्मपहचान भी है।

इसीलिए मैथिली पर बहस आवश्यक है, किंतु बहस लोकहित की हो। आलोचना आवश्यक है, किंतु वह तिरस्कार न बने। परंपरा का सम्मान आवश्यक है, किंतु नए स्वरों का दमन न हो। साहित्य का मूल्यांकन संबंध, जाति, क्षेत्र, गुट या पद के आधार पर नहीं; सामाजिक उपयोगिता, जीवन से जुड़ाव, भाषा-सामर्थ्य और रचनात्मक ईमानदारी के आधार पर होना चाहिए।

मतभेद दृष्टिकोण में है, मैथिली सबकी है। इस सत्य को स्वीकार करने से मैथिली-चर्चा संकीर्ण नहीं रहेगी, व्यापक बनेगी। तब भाषा-प्रेम के नाम पर लड़ाई नहीं, मिलकर भाषा-सेवा करने का मार्ग खुलेगा।

### 'पयस्विनी' से विचार-बिंदु 50

हीनभाव छोड़ें, मैथिली में अपनी सामर्थ्य देखें

मण्डलजी लिखते हैं- "इसलिए अपने भीतर कभी यह हीन विचार मत लाइए कि हम किसी भाषा-साहित्य से पीछे हैं। यदि रचनाकार की दृष्टि से मैथिली को देखेंगे, तो सवा सौ वर्षों के भीतर जो कुछ हुआ है, वह स्पष्ट रूप से सामने दिखाई देगा।" (पृ. 110)

यह पंक्ति मैथिली-समाज का आत्मविश्वास जगाती है। मण्डलजी स्पष्ट कहते हैं कि अपने भीतर हीनभाव न आने दें। मैथिली कोई कमजोर भाषा नहीं है और उसका साहित्य भी पिछड़ा हुआ नहीं। कमजोरी कई बार भाषा में नहीं, हमारी दृष्टि में होती है। हम अपनी भाषा को जिस दृष्टि से देखते हैं, उसी दृष्टि से उसकी सामर्थ्य प्रकट होती या छिपी रहती है।

हीनभाव भाषा-समाज के भीतर चुपचाप प्रवेश करता है। जब हम अपनी भाषा बोलने में संकोच करते हैं, बच्चों को मातृभाषा सिखाने का अर्थ पिछड़ना

समझते हैं, साहित्य पढ़ने के बजाय केवल उसकी चर्चा करते हैं और दूसरी भाषाओं की चमक देखकर अपनी भाषा की गहराई भूल जाते हैं, तब हीनभाव मजबूत होता है। मण्डलजी इसी हीनभाव को तोड़ने की बात करते हैं।

मैथिली को रचनाकार की दृष्टि से देखना आवश्यक है। केवल पाठ्यक्रम, पुरस्कार या भाषा-राजनीति के दावों की दृष्टि से नहीं। रचनाकार की दृष्टि जीवन के भीतर उतरती है। वह देखती है कि मैथिली में लोक का अनुभव कितना गहरा है, लोकगीत की परंपरा कितनी समृद्ध है, कथा, कविता, नाटक और उपन्यास की भूमि कितनी व्यापक है तथा समाज के असंख्य स्वर इस भाषा में किस प्रकार जीवित रहे हैं।

सवा सौ वर्षों की साहित्यिक यात्रा कोई साधारण बात नहीं है। इतने समय में भाषा अनेक अनुभवों से गुजरती है, अनेक पीढ़ियों की चेतना सहेजती है और अनेक रूप ग्रहण करती है। यह यात्रा केवल ग्रंथों की सूची नहीं, समाज की स्मृति है। एक पीढ़ी का दुःख दूसरी पीढ़ी तक पहुँचता है, लोक का अनुभव साहित्य का रूप ग्रहण करता है और भाषा अपने भीतर बदलते समय का इतिहास सहेजती चलती है।

मण्डलजी का आग्रह है कि मैथिली को अपनी आँखों से देखें। दूसरों की कसौटी पर स्वयं को छोटा न मानें। मैथिली में विचार, करुणा, व्यंग्य, लोकबुद्धि, संघर्ष, प्रेम और सद्भावना की अपार शक्ति है। जो भाषा लोकजीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों को व्यक्त करती है, वह भाषा असमर्थ कैसे हो सकती है?

यह सत्य है कि समस्याएँ भी हैं। पाठक-विस्तार की चुनौती है, संस्थागत कमजोरी है, शिक्षा में स्थान का प्रश्न है, डिजिटल युग के लिए तैयारी का अभाव है और साहित्यिक मूल्यांकन की उलझनें हैं। किंतु समस्या को देखना हीनभाव नहीं, जागरण है। हीनभाव तब है, जब हम अपनी सामर्थ्य देखना छोड़ देते हैं। जागरण तब है, जब हम कमियों को पहचानकर उन्हें दूर करने का कार्य आरंभ करते हैं।

मैथिली में अपनी सामर्थ्य देखने का अर्थ केवल अतीत पर गर्व करना नहीं है। उसका अर्थ है अतीत से शक्ति लेकर वर्तमान में काम करना। पढ़ना, लिखना, सिखाना, सुनाना, डिजिटल माध्यमों से पहुँचाना, नई पीढ़ी को जोड़ना, समाज के सभी वर्गों के अनुभव और शब्द-स्मृति को सहेजना तथा मैथिली साहित्य को

लोकजीवन से निरंतर जोड़ते रहना।

हीनभाव छोड़ें, मैथिली में अपनी सामर्थ्य देखें। अपनी भाषा पर विश्वास रखें, किंतु उस विश्वास को कर्म में बदलें। मैथिली को केवल प्रेम नहीं, नियमित श्रम चाहिए। मैथिली को केवल जयकार नहीं, पाठक चाहिए। मैथिली को केवल स्मरण नहीं, सृजन चाहिए। मण्डलजी की पंक्ति आत्मविश्वास को कर्म से जोड़ने का आह्वान है।

# समापन : समाज के भीतर मनुष्य

✺

पहले खंड के पचास विचार-बिंदुओं की यात्रा पूरी हुई, किंतु उनसे उठे प्रश्नों की यात्रा समाप्त नहीं होती। प्रश्नधर्मी चेतना और आत्मपरीक्षण से आरंभ हुआ विमर्श संस्कृति, इतिहास, लोकस्मृति, परंपरा, आधुनिकता, भूख, जाति, वर्चस्व, सामाजिक समाधान, मातृभूमि और भाषा तक पहुँचता है। अलग-अलग दिखाई देने वाले ये विषय अंततः एक ही मूल प्रश्न के अनेक पक्ष खोलते हैं: समाज मनुष्य को किस प्रकार बनाता है और मनुष्य अपनी चेतना, व्यवहार तथा कर्म से समाज के निर्माण में किस प्रकार योगदान देता है?

मनुष्य समाज से बाहर अपना अस्तित्व नहीं बनाता। उसकी भाषा, संबंध, पहचान, ज्ञान और जीवन के आरंभिक मूल्य समाज से मिलते हैं। किंतु समाज से मिली प्रत्येक मान्यता सत्य, न्यायपूर्ण या अपरिवर्तनीय नहीं होती। कुछ मूल्य सामूहिक जीवन को जोड़ते हैं, जबकि कुछ मान्यताएँ मनुष्यों को बाँटती हैं। कुछ परंपराएँ कठिन समय में जीवन को सहारा देती हैं, तो कुछ रूढ़ियाँ असमानता को पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनाए रखती हैं। विवेकशील जीवन का दायित्व इन दोनों को पहचानना, परखना और उनके मानवीय मूल्य के आधार पर निर्णय लेना है।

पहला खंड इसी कारण समाज की आलोचना के साथ आत्मपरीक्षण का आग्रह भी करता है। अन्याय केवल कोई दूसरा व्यक्ति, संस्था या सत्ता करती है, ऐसा मान लेना सहज है। कठिन प्रश्न यह है कि कहीं हमारे अपने व्यवहार में भी उस अन्याय का कोई रूप उपस्थित तो नहीं? हम समानता का समर्थन करते हुए भी जाति, लिंग, क्षेत्र या कुल के आधार पर भेद तो नहीं करते? हम मातृभूमि की जयकार करते हैं, किंतु उसके अलग-अलग क्षेत्रों और लोगों के प्रति समान सम्मान रखते हैं या नहीं? हम भाषा का गौरव गाते हैं, किंतु दैनिक जीवन में उसके उपयोग और विकास के लिए क्या करते हैं? सामाजिक आलोचना जब अपनी भूमिका की परीक्षा से जुड़ती है, तभी उसका नैतिक आधार मजबूत होता है।

आत्मपरीक्षण का अर्थ स्वयं को दोषी ठहराना नहीं है। यह अपने भीतर उपस्थित सामर्थ्य और कमजोरी, दोनों को पहचानने की प्रक्रिया है। अहंकार मनुष्य को अपनी त्रुटियाँ देखने से रोकता है; आत्मपरीक्षण उसे त्रुटि स्वीकार करने, उसका कारण समझने और व्यवहार सुधारने का अवसर देता है। जो मनुष्य अपने जीवन की उलझन पहचानता है, वही उसकी गाँठ खोलने की दिशा खोज सकता है। स्वयं को समझना इसी अर्थ में परिवर्तन की आरंभिक शर्त बनता है।

'स्वनिर्मित जीवन' का अर्थ यहाँ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सभी दुःख, अभाव या असफलताओं के लिए स्वयं जिम्मेदार है। जन्म, जाति, लिंग, आर्थिक स्थिति, शिक्षा और अवसर की असमानता वास्तविक सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। शोषित मनुष्य को उसके शोषण के लिए दोषी ठहराना स्वनिर्माण के विचार की विकृति होगी। स्वनिर्माण का अर्थ परिस्थितियों के अन्याय को नकारना नहीं; उसे पहचानना, उपलब्ध सामर्थ्य को विकसित करना और सामूहिक सहयोग के साथ उसके परिवर्तन के लिए सक्रिय होना है। व्यक्तिगत चेतना और सामाजिक न्याय एक-दूसरे से अलग नहीं हैं।

आत्मबल भी अकेले संघर्ष की घोषणा नहीं है। एक व्यक्ति प्रश्न उठा सकता है, साहस का पहला कदम उठा सकता है और नई दिशा का संकेत दे सकता है। किंतु सामाजिक व्यवस्था केवल एक व्यक्ति की सामर्थ्य से स्थायी रूप में नहीं बदलती। जिनका जीवन समस्या से प्रभावित है, जब उनके अनुभव, सहभागिता और निर्णय समाधान की प्रक्रिया से जुड़ते हैं, तभी परिवर्तन का आधार मजबूत होता है। आत्मबल सामूहिक शक्ति का आरंभ बन सकता है, उसका विकल्प नहीं।

संस्कृति का प्रश्न इस खंड का एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार है। संस्कृति केवल पर्व-त्योहार, संस्कार, गीत या बाहरी आचार का नाम नहीं है। खेत में श्रम करता किसान, घर-परिवार के अनुभव सहेजती स्त्री, लोक-कंठ में स्मृति बचाए रखने वाला समुदाय और दैनिक जीवन का ज्ञान विकसित करने वाले साधारण लोग, सभी संस्कृति के निर्माण में सहभागी हैं। यदि इन अनुभवों को प्रचलित सांस्कृतिक परिभाषा से बाहर रखा जाए, तो संस्कृति संपूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती।

संस्कार-गीत इस संदर्भ में विशेष अर्थ ग्रहण करते हैं। जहाँ स्त्रियों के लिए औपचारिक शिक्षा के द्वार सीमित या बंद थे, वहाँ गीत अनुभव और लोकज्ञान की पाठशाला बने। कंठ से कंठ तक चलते गीतों में स्त्रियों की पीड़ा, प्रेम, हास्य, आशा, सामाजिक दबाव और लोकबुद्धि सुरक्षित रही। लिखित अभिलेखों में स्थान न मिलने से कोई अनुभव इतिहास से बाहर नहीं हो जाता। लोकस्मृति में जीवित स्वरों को पढ़ना इतिहास और संस्कृति, दोनों की समझ को व्यापक बनाता है।

अतीत का पुनर्पाठ भी इसी व्यापक दृष्टि का हिस्सा है। अतीत अनुभवों का भंडार है; उसमें समाज की उपलब्धियाँ, भूलें, संघर्ष और स्मृतियाँ सहेजी रहती हैं। किंतु अतीत को प्रश्नों से ऊपर रख देने पर वर्तमान की दृष्टि बंद हो जाती है। उपयोगी परंपराओं को सहेजते हुए अमानवीय रूढ़ियों की पुनर्परीक्षा करना अतीत का अपमान नहीं है। यह विरासत को जीवंत रखने की प्रक्रिया है, जिसमें समाज अपने अनुभवों से सीखते हुए आगे बढ़ता है।

आधुनिकता के बाहरी रूप और वैचारिक आधुनिकता के बीच का अंतर समझना भी आवश्यक है। नई तकनीक, अस्पताल, मशीन, मोबाइल और आधुनिक भवन समाज को सुविधाएँ दे सकते हैं। किंतु यदि जातिगत ऊँच-नीच, स्त्री की उपेक्षा, श्रम का अवमूल्यन और असहमत आवाजों का दमन बना रहे, तो साधन नए होते हुए भी चेतना पुरानी रह सकती है। वास्तविक आधुनिकता केवल उपकरणों का उपयोग नहीं; प्रमाण, वैज्ञानिक दृष्टि, समानता, स्वतंत्र विचार और मनुष्य की गरिमा को स्वीकार करने वाली चेतना है।

भूख, जाति, क्षेत्रीय भेद और वर्चस्व के प्रश्न यह दिखाते हैं कि समाज की बहुत-सी समस्याएँ केवल प्रकृति की देन नहीं हैं। प्राकृतिक परिस्थितियाँ उत्पादन और जीवन को प्रभावित कर सकती हैं, किंतु उपलब्ध साधनों का वितरण, श्रम का मूल्य, अवसरों की पहुँच और अधिकारों की संरचना सामाजिक निर्णयों से बनती है। अन्न की कमी होना और अन्न उपलब्ध होते हुए भी कुछ लोगों का भूखा रहना एक ही स्थिति नहीं है। सामाजिक संरचना से उत्पन्न समस्याएँ यदि मनुष्य की बनाई हुई हैं, तो उनके परिवर्तन की संभावना भी मनुष्य के सामूहिक कर्म में निहित है।

वर्चस्व कई बार संस्कृति, मर्यादा, नैतिकता या प्रतिष्ठा का रूप धारण कर लेता है। जब प्रभावशाली समूह अपनी जीवन-पद्धति को संपूर्ण समाज का

आदर्श बना देता है, तब अन्य लोगों के अनुभव किनारे पड़ जाते हैं। जब भूखे मनुष्य को भोजन के प्रश्न के बदले केवल उपदेश मिलता है, तब नैतिकता लोककल्याण का साधन रहने के बजाय नियंत्रण की भाषा बन सकती है। जब जाति श्रमजीवी लोगों को आपस में बाँटती है, तब सामूहिक शक्ति कमजोर होती है और शोषण का आधार मजबूत होता है।

इन समस्याओं का समाधान केवल विरोध की घोषणाओं से नहीं निकलता। पहले समस्या के वास्तविक रूप को स्वीकार करना, फिर उसके कारण और जड़ को पहचानना और उसके बाद प्रभावित लोगों की सहभागिता से समाधान का मार्ग बनाना आवश्यक है। खुला विमर्श इस प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आधार है। विमर्श का अर्थ सबका एक ही विचार होना नहीं; एक-दूसरे के अनुभव सुनते हुए, प्रमाण और तर्क को परखते हुए तथा लोकहित के आधार पर निर्णय तक पहुँचने का सामूहिक प्रयास है।

नैतिक भाषण और व्यवहार की ईमानदारी का अंतर भी यहाँ स्पष्ट होता है। मनुष्य जो कहता है, उसका महत्त्व है; किंतु वह जो करता है, वही उसके विचार की वास्तविक परीक्षा है। ऊँची आवाज सत्य का प्रमाण नहीं, पद ईमानदारी का प्रमाण नहीं और घोषणा पक्षधरता का प्रमाण नहीं। कमजोर मनुष्य के साथ व्यवहार, सामूहिक निर्णय में दूसरों के मत को दिया गया स्थान और निजी सुविधा के समय भी अपने घोषित सिद्धांत पर खड़े रहने का साहस, ये सभी सामाजिक चरित्र की वास्तविक कसौटियाँ हैं।

गाँव, जमीन, पानी और भाषा के प्रश्न इस खंड को मातृभूमि के व्यावहारिक अर्थ तक ले जाते हैं। मातृभूमि केवल भावुक स्मृति या जयकार का विषय नहीं है। उसकी मिट्टी, प्राकृतिक साधनों, श्रमजीवी लोगों, विविध क्षेत्रों और भाषाओं के प्रति जिम्मेदारी मातृभूमि-प्रेम का आधार है। मिथिला को केवल शहर, कार्यालय या सीमित साहित्यिक केंद्रों की दृष्टि से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए गाँव, खेत, नदी, लोकभाषा, श्रम और विविध सामाजिक जीवन के बीच उपस्थित संबंधों को देखना होगा।

मैथिली सबकी भाषा है। क्षेत्र, जाति, कुल या सामाजिक हैसियत के आधार पर उस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। मतभेद दृष्टिकोण में हो सकते हैं, किंतु भाषा के साझा अधिकार पर नहीं। मैथिली का भविष्य केवल भाषण,

सम्मेलन या गौरव की घोषणाओं से सुरक्षित नहीं होगा। घर, शिक्षा, ज्ञान, साहित्य, तकनीक, प्रकाशन और सार्वजनिक जीवन में उसका निरंतर और आत्मविश्वासपूर्ण उपयोग आवश्यक है।

हीनभाव भाषा की सामर्थ्य को नहीं, उसका उपयोग करने वाले समाज के आत्मविश्वास को कमजोर करता है। कोई भाषा आधुनिक विषयों को व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य लेकर जन्म नहीं लेती; लेखक, पाठक, शिक्षक, अनुवादक और सामान्य उपयोगकर्ता निरंतर प्रयोग से उसके अभिव्यक्ति-संसार को विकसित करते हैं। मैथिली में समाज, विज्ञान, दर्शन, तकनीक, न्याय और आधुनिक जीवन के जटिल प्रश्नों पर जितना निरंतर लेखन और विमर्श होगा, उसकी शब्द-सामर्थ्य और वैचारिक अभिव्यक्ति का क्षेत्र उतना ही विस्तृत होता जाएगा।

खंड के आरंभ में उठा आत्मबल का प्रश्न अंत तक आते-आते भाषिक आत्मविश्वास का व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेता है। जो व्यक्ति अपने विवेक और कर्म की सामर्थ्य पर भरोसा नहीं करता, उसके लिए सामाजिक परिवर्तन में सक्रिय भूमिका निभाना कठिन होता है। उसी प्रकार जो समाज अपनी भाषा पर भरोसा नहीं करता, वह अपने अनुभव, ज्ञान और भविष्य को स्वतंत्र स्वर देने में कमजोर पड़ सकता है। आत्मबल व्यक्ति को खड़े होने की सामर्थ्य देता है; भाषिक आत्मविश्वास समाज को अपने अनुभव कहने का स्वर देता है।

किंतु आत्मविश्वास का अर्थ आत्ममुग्धता नहीं है। अपनी भाषा और संस्कृति से प्रेम करते हुए दूसरी भाषा, क्षेत्र या समुदाय को नीचा दिखाना फिर वर्चस्व का दूसरा रूप बन सकता है। स्वस्थ आत्मविश्वास अपनी सामर्थ्य पहचानता है, दूसरे की गरिमा का सम्मान करता है और संवाद के लिए खुला रहता है। स्वनिर्माण की यात्रा अपनी पहचान को सुदृढ़ करने के साथ-साथ मनुष्यता और सामाजिक जिम्मेदारी को व्यापक करने की यात्रा भी है।

'समाज के भीतर मनुष्य' पाठक को कोई पूर्वनिर्धारित सामाजिक आदर्श नहीं सौंपता। यह उसे प्रश्न करने, अपनी स्थिति पहचानने, प्राप्त मान्यताओं को परखने और जिम्मेदार निर्णय लेने का वैचारिक आधार देता है। पाठक सभी निष्कर्षों से सहमत हों, यह आवश्यक नहीं। किंतु यदि ये विचार-बिंदु उन्हें अपने विश्वास, व्यवहार, भाषा और सामाजिक भूमिका पर नई दृष्टि से सोचने की प्रेरणा देते हैं, तो इस खंड का प्रयोजन सार्थक होता है।

आत्मपरीक्षण का वास्तविक फल सामाजिक दायित्व है। अपने भीतर की कमजोरी पहचानकर केवल आत्मग्लानि में डूब जाना परिवर्तन नहीं है। उस पहचान के आधार पर व्यवहार सुधारना, संबंधों को अधिक न्यायपूर्ण बनाना, भेदभाव का विरोध करना, श्रम का सम्मान करना, लोकभाषा और लोकज्ञान को उचित स्थान देना तथा सामूहिक जीवन में जिम्मेदार भूमिका निभाना आवश्यक है। विचार तभी जीवन की शक्ति बनता है, जब वह व्यवहार और कर्म में उतरता है।

इसी बिंदु पर पहला खंड अपने स्वाभाविक निष्कर्ष तक पहुँचता है। समाज मनुष्य को बनाता है, किंतु मनुष्य केवल समाज का निष्क्रिय परिणाम नहीं है। वह अपने भीतर समाज से मिले मूल्यों, पूर्वाग्रहों, संभावनाओं और सीमाओं को पहचान सकता है; उनकी पुनर्परीक्षा कर सकता है और अपने कर्म की दिशा चुन सकता है। यह चयन अकेले नहीं, सामाजिक संबंधों और सामूहिक जिम्मेदारी के बीच होता है। इसी अर्थ में स्वनिर्माण स्वयं को बदलने के साथ समाज को अधिक मानवीय बनाने की प्रक्रिया से जुड़ता है।

किंतु चेतना केवल भीतर रह जाए, तो उसकी सामाजिक यात्रा अधूरी रह जाती है। समाज को समझने के बाद प्रश्न उठता है कि इस बोध को अभिव्यक्ति कैसे मिले। मनुष्य जिस सत्य को देखता, अनुभव करता और विचारता है, उसे भाषा, साहित्य और संवाद में कैसे उतारे? रचनाकार अपनी कलम का सामाजिक पक्ष कैसे निर्धारित करे? पाठक, मंच, संस्था, आलोचना, प्रचार, पुरस्कार और नए माध्यम सृजन के सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

ये प्रश्न 'स्वनिर्मित जीवन' के दूसरे खंड 'सृजन के भीतर समाज' का द्वार खोलते हैं। पहला खंड मनुष्य को समाज के भीतर अपनी चेतना, सामर्थ्य और जिम्मेदारी पहचानने की यात्रा कराता है। दूसरा खंड उसी चेतना को सृजन के क्षेत्र में ले जाता है, जहाँ मूल प्रश्न यह है कि मनुष्य अपनी भाषा, विचार और रचनात्मक कर्म से समाज की स्मृति, संवाद और परिवर्तन में किस प्रकार योगदान देता है। समाज मनुष्य की चेतना को निरंतर प्रभावित करता है; दूसरा खंड इसी क्रम में देखता है कि वही चेतना सृजन के माध्यम से समाज के भीतर किस प्रकार सक्रिय होती है और उसके विचार, संबंध तथा परिवर्तन की प्रक्रिया को किस प्रकार दिशा देती है।

# स्रोत और पाठ-संदर्भ

✳

'स्वनिर्मित जीवन–1 : समाज के भीतर मनुष्य' का प्रमुख वैचारिक स्रोत श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की 'पयस्विनी' है। इस खंड के अधिकांश विचार-बिंदु 'पयस्विनी' में संकलित आलेखों, निबंधों, वक्तव्यों, प्रश्नोत्तरों और परिसंवादों से चुने गए कथनों के आधार पर विकसित हुए हैं। कुछ विचार-बिंदुओं का आधार गजेन्द्र ठाकुर लिखित 'जगदीश प्रसाद मण्डल : एकटा बायोग्राफी' में संकलित मण्डलजी के जीवनानुभव और कथन हैं। मूल कथन प्रत्येक विचार-बिंदु का वैचारिक प्रवेश-सूत्र है; उसके बाद विकसित अर्थ-विस्तार, विश्लेषण और समकालीन संदर्भ प्रस्तुत पुस्तक का स्वतंत्र वैचारिक विमर्श है।

प्रयुक्त मूल संस्करण का विवरण : जगदीश प्रसाद मण्डल, पयस्विनी, प्रथम संस्करण, 2021; तथा द्वितीय संस्करण, 2023; पल्लवी प्रकाशन, बेरमा/निर्मली; ISBN 978-93-93135-05-6।

प्रत्येक उद्धरण के अंत में कोष्ठक के भीतर दी गई पृष्ठ-संख्या 'पयस्विनी' के द्वितीय संस्करण, 2023, पर आधारित है। अन्य संस्करणों में पृष्ठ-संख्या भिन्न हो सकती है। किसी कथन के विस्तृत प्रसंग को समझने के लिए पाठक उल्लिखित पृष्ठ के साथ उसके पहले और बाद के अनुच्छेद भी पढ़ सकते हैं।

उद्धरण-चिह्नों के भीतर के कथन मण्डलजी के हैं; इसके बाद का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का स्वतंत्र विचार-विस्तार है। इसलिए मूल कथन और प्रस्तुत विश्लेषण परस्पर संबद्ध होते हुए भी अपने-अपने वैचारिक उत्तरदायित्व रखते हैं। प्रस्तुत विमर्श को मण्डलजी का प्रत्यक्ष कथन मानना उचित नहीं होगा।

उद्धरणों को मूल पुस्तक के पाठ से मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। जहाँ मुद्रणजनित स्पष्ट टंकण-दोष, शब्दों के बीच अनावश्यक रिक्ति, विरामचिह्नों की

असंगति अथवा कंप्यूटर-जनित अदृश्य संकेत थे, वहाँ पठनीयता के लिए न्यूनतम यांत्रिक सुधार किए गए हैं। मूल कथन के आशय, वैचारिक स्वर और वाक्यक्रम को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

'पयस्विनी' अलग-अलग समय में लिखी गई सामग्री का संग्रह है। इसमें उल्लिखित कुछ तथ्य, साहित्यिक गतिविधियाँ, रचनाओं की संख्या अथवा समकालीन प्रसंग अपने मूल लेखनकाल की स्थिति को व्यक्त करते हैं। इसलिए ऐसे उल्लेखों को वर्तमान समय के नवीनतम आँकड़ों के रूप में न पढ़ा जाए।

यह खंड 'पयस्विनी' का सारांश, अध्यायवार समीक्षा अथवा मूल पुस्तक का विकल्प नहीं है। प्रत्येक विचार-बिंदु मूल पुस्तक के किसी एक कथन से आरंभ होकर वर्तमान समाज और मानवीय जीवन के व्यापक प्रश्नों तक पहुँचने का प्रयास करता है। पाठक मूल कथन और प्रस्तुत विमर्श, दोनों को अपने अनुभव, विवेक और समकालीन संदर्भ के आधार पर पढ़ें, परखें तथा अपनी सहमति, असहमति और नए प्रश्नों के साथ इस विचार-संवाद को आगे बढ़ाएँ।

# Notes

......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................
......................................................